CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

S-5

मानव और समाज

स्वामी महेशानन्द गिरि जी
के प्रवचन (१९६८)

दक्षिणामूर्ति प्रकाशन
वाराणसी

(उर्मिला शर्मा)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

श्रीदक्षिणामूर्ति संस्कृत ग्रन्थमाला-५१

मानव और समाज

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य निरञ्जनपीठाधिपति

स्वामी महेशानन्द गिरि

आचार्य महामण्डलेश्वरजी महाराज के

प्रवचन

(ईस्वी सन् १९६४)

संकलनकर्ता

पण्डित भगीरथ पाण्डेय

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

वाराणसी

मूल्य : एक रुपया | संवत् २०६२

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय-क्रम

मानव और समाज

भूमिका	1
संस्कृति-विचार	17
व्यष्टि और समष्टि	24
उद्देश्य की समानता	37
परस्पर निर्भरता	50
ईश्वर ही आधार	63
स्वार्थ से नाश	78
सहयोग से उन्नति	90
स्थिर और अस्थिर	100
शिष्टकी निर्भयता	115
शिष्ट ही नेता	129
एकता की संस्कृति	145
दिल और दिमाग़ की एकता	156

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

भूमिका

मानव और समाज अयुतसिद्धावयव हैं अर्थात् मानव के बिना समाज की और समाज के बिना मानव की सिद्धि नहीं। अतः यद्यपि विचार करने के लिये मानव और समाज का अलग-अलग विचार करना पड़ता है तथापि दोनों को मिलाकर किया विचार ही पूर्ण हो पाता है। जिस प्रकार ब्रह्म का निरूपण करने के लिये व्यष्टिका, जीवका निरूपण भी जरूरी है और समष्टि, ईश्वर का निरूपण भी जरूरी है; केवल जीव या केवल ईश्वर के अवगम से ब्रह्म की समझ नहीं आ सकती क्योंकि जीव-ईश्वर अयुतसिद्ध हैं, इन दोनों में से एक के बिना दूसरे की सिद्धि नहीं, समष्टि-व्यष्टिभाव के कारण दोनों का विचार अपेक्षित है; इसी प्रकार मानव और समाज के विचार के बारे में भी समझना चाहिये।

वेद को संहिता भी कहते हैं क्योंकि इसमें (सं) भली प्रकार से सब प्राणियों का (हिता) हित छिपा है। संहितापाठ वेद का मूल पाठ माना गया है, पदपाठ आदि विकृतियाँ बतायी गयी हैं। तैत्तिरीय उपनिषत् की प्रारंभिक शिक्षा-नामक वल्ली में 'महासंहिता' का उल्लेख है जिसमें लोक, ज्योतिष, विद्या, प्रजा और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अध्यात्म—पाँचों का भली प्रकार व्याख्यान किया जा सकता है। पाँचों दृष्टियों से विचार करने पर संहिता ही महासंहिता कही जाती है। महासंहिता के उपदेश से पूर्व शान्तिपाठ बताया गया है जिसमें आचार्य और शिष्य के साथ-साथ यश व ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति की कामना की गयी है। आचार्य शंकर कहते हैं 'कृतार्थो हि आचार्यो नाम भवति'—जिसे पुरुषार्थ-सिद्धि हो चुकी वही आचार्य होता है, अतः उसके लिये प्रार्थना करना बनता नहीं, शिष्य ही दोनों के लिये प्रार्थना करता है। वेदों में अनेक जगह गुरु-शिष्य आदि की एकता का प्रतिपादन है। इसी एकता की स्पष्टता के लिये वेद में कई प्रकार की संस्कृतियाँ कही गयी हैं।

आज जिस तात्पर्य से संस्कृति-शब्द का प्रयोग होता है उस तात्पर्य से वेद में उसका प्रयोग नहीं। संस्कृति और संस्कार का एक ही अभिप्राय है। ठीक प्रकार से कार्य करने से अन्तःकरण में पड़ने वाले प्रभाव को संस्कार कहते हैं। व्यक्ति में संस्कारों की तरह समाज में भी अनेक शताब्दियों से विभिन्न प्रकार के विचारों के प्रचलन के अनुभवों और वैज्ञानिक प्रयोगों के फलस्वरूप कुछ विशेष प्रभाव व्याप्त हो जाते हैं जो उस समाज के अंगरूप व्यक्तियों को स्वाभाविक रूप से प्राप्त होते हैं। इसे स्विट्ज़रलैंड के विचारक युंग ने (सोश्यल अन्कान्श्यस) सामाजिक अचेतन कहा है। मनुष्य के मन को प्रेरित करने वाले स्रोत हमेशा उसे स्फुटतया ज्ञात नहीं होते। अनेक स्रोत ज्ञायमान रहकर ही प्रेरित करते हैं परन्तु बहुतेरे ऐसे हैं जो विस्मृत होकर भी प्रेरित करते रहते हैं। यह संस्कार का ही प्रभाव है। इसी प्रकार समाज में अनेक परिवर्तन आने पर भी, उन परिवर्तनों के मूल रूपों को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भूलने पर भी उनका प्रभाव रह जाता है जिसे संस्कार कहते हैं और यही समाज की संस्कृति है। विभिन्न व्यक्तियों की तरह विभिन्न समाजों में भी अलग-अलग संस्कार होते हैं। इस प्रसंग में केवल भौगोलिक परिधि में समाज विवक्षित नहीं है क्योंकि एक क्षेत्र में युगपत् अनेक समाज हो सकते हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय आदि समाजों की मान्यताएँ परस्पर विलक्षण हुआ करती हैं जबकि इनका भौगोलिक परिवेश एक ही है। एक क्षेत्र के अनेक समाजों की सामुदायिक संस्कृति भी होती है, ऐसे प्रेरणा-स्रोत होते हैं जो उन सभी समाजों के प्रेरक बनते हैं। परस्पर व्यवहार आदि से मिले होने के कारण सामुदायिक संस्कृति वाले समाजों को एक-दूसरे से निरपेक्ष मानकर नहीं समझा जा सकता क्योंकि सभी में सबका प्रभाव लक्षित होता है। संस्कृति में दोनों तरह के संस्कार सम्मिलित हैं—इन प्रत्येक समाजों में होने वाले, और इन सबमें समानतया व्याप्त होने वाले।

इस व्यापक दृष्टिकोण से वैदिक सामाजिक चिन्तन का परीक्षण करने पर तीन आधारभूत विचार सामने आते हैं। एक वर्णन ऐसी संस्कृति का है जो केवल इहलोक से प्रभावित है, इसे ही एकमात्र प्राप्तव्य स्वीकारती है। वेद ने इस संस्कृति को 'मर्य' बताया है। दूसरा वर्णन 'नर्य' संस्कृतिका है जिसमें इहलोक के बजाये परलोक ही प्रधान है। तीसरा वर्णन इन दोनों से भिन्न 'दिव्य' संस्कृतिका है जिसमें इहलोक-परलोक का एकीकरण है जिससे उक्त दोनों संस्कृतियों के विरोधों का परिहार हो जाता है एवं इस जगत् को नन्दन वन बना दिया जाता है। इतिहास में ऐसा काल ढूंढना संभव नहीं जब इनमें से कोई एक ही संस्कृति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का साम्राज्य रहा हो। कम या ज़्यादा प्रभावी होकर ये साथ-साथ कायम रहती हैं। समझने के लिये इनका पृथक्-पृथक् विश्लेषण उपयोगी होता है।

भारत की संस्कृति का मूल वेद है। वेद का वास्तविक प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है, भगवान् श्रीकृष्ण ने भी 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' कहा है अर्थात् सब वेदों द्वारा मैं ब्रह्म ही विज्ञेय हूँ। ब्रह्मप्राप्ति के लिये अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक है जिसे सम्पन्न करने वाले धर्म का प्रतिपादन भी वेद का अवान्तर तात्पर्य है। प्रधानतः स्थूल शरीर से किया जाने वाला बाह्य धर्म एवं प्रधानतः मनसे किया जाने वाला आंतरिक धर्म है। आंतरिक धर्म को उपासना या भक्ति भी कहा जाता है। धर्म से चित्त पापरहित, शुद्ध होकर अनेकाग्रता से भी रहित हो जाता है, तभी ब्रह्मप्राप्ति के उपायों का सम्यग्रूप से अवलम्बन कर साधना सफल कर पाता है। ब्रह्मप्राप्ति से कृतकृत्यता आने पर मनमें कोई कामना नहीं रह जाती। ब्रह्म और उसके साधनरूप से धर्म वेद का मुख्य तात्पर्य होने पर भी वेद में अनेक विषयों का उल्लेख उपलब्ध है जो हमें जीवन-निर्माण के लिये संकेत प्रदान करते हैं। महाराजा मनु कहते हैं—

'सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविद् अर्हति।।'

जो वेद-शास्त्र का ज्ञाता है वह सेनापति का कार्य करने के भी योग्य है, राज्य-शासन करने के योग्य भी है, न्यायाधीश बनने के भी योग्य है, सारे लोकों का अधिपति होने में भी समर्थ है। यह तभी संभव है जब वेद पढ़ने से इन क्षेत्रों की भी जानकारी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिले। ये बातें तात्पर्यतः अभिप्रेत न होने पर भी वैदिकों को सर्वविध दिशा-निर्देशन में पूर्णतः समर्थ हैं। इनसे प्रेरित होकर प्रगति करें तभी वैदिक दृष्टि से उन्नति कही जायेगी। ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में (सूक्त ३२ मं. ६) बताया है।

'दण्डा इवेद् गोअजनास आसन् परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः।
अभवच्च पुर एता वसिष्ठ आदित् तृत्सूनां विशो अप्रथन्त।।'

गायों को चलाने के लिये जेसे निर्बल काष्ठ होते हैं ऐसे ही भरत लोग निर्बल थे क्योंकि वे केवल अपना स्वार्थ ही देखते थे, बच्चों की तरह क्षणिक सुखों में ही लगे थे। प्रारंभ में उक्त स्थिति थी। परन्तु जब वसिष्ठ ऋषि ने उन्हें मार्गदर्शन कराया तब वे विजयी हुए, बढ़ गये, सब प्रकार से उन्नत हुए। भरतवंशियों को वसिष्ठ ने बुद्धिमान् बनाया। उन्हीं के निदेशन में वे संगठित और पराक्रमी बनकर अभ्युदय प्राप्त करते गये। जब तक वे बालबुद्धि वाले, परस्पर झगड़ने वाले, दुर्बल थे तब तक उनका पराभव ही होता था। संस्कृति के मार्गदर्शक का यह कार्य है कि घटकों में संगठन एवं वीरता विकसित करे। इस प्रकार के वर्णनों पर विचार करने से संस्कृतियों के रूप समझ आते हैं।

प्रधान विषय न होने से संस्कृति का सिलसिलेवार प्रतिपादन वेद में नहीं है लेकिन जगह-जगह बतायी बातों के अनुसन्धान से संस्कृति के बारे में वैदिक दृष्टि अवश्य स्पष्ट हो जाती है। इसी आधार पर वेदोक्त तीन संस्कृतियों की चर्चा 'मानव और समाज' प्रवचन-शृंखला में है। इहलोक को ही सब कुछ मानने वालों का भी वेद में कथन है। ऐसे ही, केवल परलोक पर एकाग्र रहने वालों का भी वर्णन है और सारे जगत् को ही नन्दनवन बनाने में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समर्थ लोगों का भी उल्लेख है। परब्रह्म का दृढ बोध जिसे प्राप्त है उसके लिये संपूर्ण जगत् मानो नन्दनवन है। वेद बताता है कि 'जैसा यहाँ है, वैसा वहाँ है' अर्थात् इहलोक व परलोक सर्वथा भिन्न नहीं हैं, दोनों माया से एक-समान कल्पित हैं, उभयत्र विषय-विषयिभाव है। स्वर्ग का वर्णन किसी लोकविशेष का ही हो यह ज़रूरी नहीं, मीमांसाचार्य स्वर्ग का तात्पर्य सुख मानते हैं और सुख इहलोक और परलोक दोनों जगह मिलता है। इहलोक-परलोक को एक जैसा समझने वाला मानो स्वर्ग की उत्तम चीज़ों को यहाँ प्रकट करने की कोशिश करता है। यही प्रध ानतः दिव्य संस्कृति का संदेश है। उक्त तीन संस्कृतियों को आदर्श-रूप में समझना पड़ता है। वह लक्ष्य जिसकी ओर हम चलते हैं, आदर्श है। किसी देश-काल में सर्वथा प्राप्त हो सके—यह आदर्श के लिये आवश्यक नहीं, किन्तु वह संस्कृति को अपनी ओर बढ़ने के लिये आकृष्ट व उत्प्राणित करे तभी वह संस्कृति उस नाम से कही जाती है। जैसे रेल गन्तव्य नहीं, वहाँ पहुँचने का साधन होने से गन्तव्य के नाम से अंकित होती है—यथा दिल्ली मेल, अवध एक्सप्रेस आदि—वैसे आदर्शों की ओर ले जाने वाली होने से संस्कृति नर्य, मर्य या दिव्य कहलाती है।

मर्य संस्कृति स्वाभाविक है। ऐहिक सुखार्थ प्रवृत्ति मनुष्य और पशु में समान है। इतने से ही सन्तुष्ट रहने वाला मर्य संस्कृति का व्यक्ति कहा जायेगा। मर्य शब्द का अर्थ सायणाचार्य ने 'मर्यासः मर्येभ्यो हिताः' में 'मनुष्येभ्यो हिताः' किया है। मरणध र्मा को मर्य कहते हैं, वह मरण-धर्मों के लिये ही प्रयत्नशील

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होता है। ऋग्वेद कहता है 'नरो मर्या अरेपस इमान् पश्यन्निति ष्टुहि' (५.५३.३)। मनुष्य मरण-धर्मों के लिये ही कार्य करता है। मर्य-शब्द का प्रयोग वेद में अनेक स्थलों पर आया है। ऐसे ही 'नृणां नर्यो नृतमः' (ऋ. १०.२९.१) मानवों में श्रेष्ठ नेता, श्रेष्ठ मनुष्य मानवों का हित करता है—आदि नर्य-शब्द वेद में प्रयुक्त है। 'नर्यः सुजातः', अच्छी तरह पैदा हुए को नर्य कहते हैं। माता, पिता और आचार्य से योग्य शिक्षा प्राप्त किया हुआ ही सुजात है। 'सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव' (ऋ. ९.१०५.५)—जिस प्रकार मित्र परस्पर सहायक होते हैं उस प्रकार सबके तेज का वर्धन नर्य करता है। ये शब्द व्यक्तियों के बारे में आये हैं पर विशिष्ट प्रकार के व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त होने से ऐसे प्रयोगों को संचित कर इनकी एक-वाक्यता स्थापित करने से मर्य, नर्य आदि के बारे में वेद का दृष्टिकोण हमें स्पष्ट हो जाता है। मर्य और नर्य, दोनों एकपक्षीय विचार हैं। विषयों में रमण न करने वाला नर है। वह केवल परलोक की दृष्टि अपनाता है।

दिव्य संस्कृति में उक्त दोनों दृष्टियों का विरोध समाप्त हो जाता है। दिव्य-शब्द बहुधा परमेश्वर के लिये प्रयुक्त मिलता है। आत्मविषयक आवरण जिस व्यक्ति का नष्ट हो चुका है वही दिव्य संस्कृति का प्रतिनिधि बन सकता है। जैसे ईश्वर माया से संसार-संचालन करता है पर आवरण से रहित है वैसे दिव्य पुरुष आवरण-रहित होकर माया की विक्षेपशक्ति का अनुभव करता है। अतः उसका वर्णन परमेश्वर-वर्णन जैसा हो जाता है। 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः' आदि वेदवचन दिव्य उसे कहते हैं जो परिच्छेदों से रहित है, मूर्त-अमूर्त सीमाओं वाला नहीं है। उसका आचरण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इहलोक-परलोक का भेद मानकर नहीं होता वरन् एक परमात्मा ही माया से विस्तृत उपलब्ध है–इस एकत्व ज्ञान से ही वह व्यवहार-निर्वाह करता है। सर्वथा पूर्ण होने से स्वयं की तुष्टि के लिये उसे कोई कार्य नहीं करना पड़ता। अपने आप में ही वह परमानन्द का अनुभव करता है, जैसा गीता में कहा 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः'। बन्धन में स्थित जीव को आवरण के साथ ही विक्षेप का अनुभव होता है इसलिये हम उस दिव्य अवस्था का कुछ भी अन्दाज़ नहीं लगा पाते। संभवतः इसीलिये वेद में दिव्य संस्कृति का मुख्यतः विस्तार नहीं है, फिर भी छान्दोग्योपनिषद् आदि में इसकी ओर संकेत है। दिव्य व्यक्ति के बारे में कहा है कि वह जिस लोक की इच्छा करता है वह लोक स्वयं उसके सामने उपस्थित हो जाता है; मुण्डकोपनिषत् कहती है 'तस्मै देवा बलिमाहरन्ति' देवता भी उसके लिये भेंट उपस्थित करते हैं। इन उपलब्धियों को दिव्य पुरुष सर्वत्र वितरित करता है। उसकी सेवा करने से सब कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। सकाम व्यक्ति का भी हित इसी में है कि वह आत्मज्ञ के आदेशों का पालन करे क्योंकि उसकी आज्ञापालनरूप अर्चना वैभव-प्रद है। यों दिव्यों के बारे में वेद बताता है पर इस अर्थ में दिव्य-शब्द का प्रयोग न्यून है तथा विस्तार भी अधिक नहीं है। परमेश्वर की विशेषताएँ ही दिव्य संस्कृति के मूल्य बन जाते हैं।

सहज होने से मर्यता की बहुलता होने पर भी भारतवर्ष में नर्य संस्कृति की प्रधानता रही है। मर्य संस्कृति को यहाँ हेय दृष्टि से देखा गया। यहाँ के मर्यों के मन में भी नर्यों के प्रति श्रेष्ठ-भावना रही। अतः भारतीय संस्कृति मूल रूप से नर्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संस्कृति कही जा सकती है जिसका आदर्श दिव्य संस्कृति था। ऋग्वेद के प्रथम मंडल में कहा है 'अच्छा नीरं नर्यं पंक्तिराधसम्' नर्य संस्कृति वाला वीरता के कार्य करता है, वे सत्कार्य ही होते हैं। शुभरूप से हित करने वाला नर्य है। 'त्वम् अविथ नर्यम्' नर्यों का संरक्षण परमात्मा करते हैं यह वेद की (ऋ. १.५४.६) प्रतिज्ञा है। नर्य शत्रुओं का पराभव करता है। शत्रु-नाश की शक्ति नर्य में स्वाभाविक है। शत्रु-शब्द से बाह्य-आन्तर दोनों तरह के विरोध ी समझने चाहिये। अपने काम-क्रोधादि का नाश करने में नर्य समर्थ होता है। वह अन्यों को भी इस दिशा में प्रेरणा देता है। काम-क्रोधादि प्रवृत्तियाँ ही मर्य संस्कृति की ओर ले जाती हैं। जो इन्हें मारने में असमर्थ होगा वह नर्य संस्कृति में ढल नहीं सकता। 'भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु' (ऋ. १.१६६.१०) नर्य के बाहु बहुत कल्याण करते हैं। नर्य संस्कृति के बारे में वेद में अनेक प्रकार के विचार हैं जिन्हें एकत्र करने का इन प्रवचनों में प्रयत्न है। यद्यपि बहुत थोड़ा ही वर्णन इन प्रवचनों में आ पाया है और प्रवचनों का संक्षप ही संगृहित हो पाया है, तथापि मूल दृष्टिकोण स्पष्ट हो पायेगा यह आशा है।

वर्तमान में भारतीय संस्कृति निर्माण के काल में है। संस्कृति प्रवाहात्मक होने से इसमें निर्माण और नाश होता ही रहता है, फिर भी ऐसे समय आते हैं जब निर्माण विशेष होता है। अव्यक्त से व्यक्त होना सृष्टि, व्यक्त बने रहना स्थिति और व्यक्त का पुनः अव्यक्त में लीन होना प्रलय है। तत्तत् व्यष्टियों के सृष्टि-स्थिति-लय हमेशा होते रहते हैं पर समष्टि स्तर पर जब सृष्टि आदि होते हैं तब उसे सृष्टि आदि का *काल* कहा जाता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। अत एव जो ब्रह्मा-विष्णु आदि समग्र सृष्टि आदि पर नियंत्रण रखते हैं वे ही वस्तुओं की लगातार होती सृष्टि आदि पर भी नियंत्रण रखते हैं। संस्कृति में निरन्तर परिवर्तन होता रहने पर भी कभी उसके निर्माण पर ज्यादा कार्य हो रहा होता है तो कभी नाश पर। गत कुछ वर्षों से भारतीय संस्कृति में परिवर्तन आ रहा है। औद्योगिक क्रान्ति ने समाज में आधारभूत परिवर्तन ला दिया जिससे जीवन का मान्य क्रम सर्वथा परिवर्तित हो गया है। अतः हमें अपने में नये संस्कार लाना ज़रूरी हो गया है। पुराकाल में व्यक्ति और व्यक्तिसमूह ही कार्य करते थे अतः व्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रधान रहने से सामाजिक मूल्यों में व्यक्ति के मूल्यों पर ही सर्वाधिक बल देना आवश्यक था। यान्त्रिक युग में यन्त्रों की वृद्धि अप्रत्याशित तीव्रता से हो रही है। विश्व के इतिहास में ऐसे समय आते हैं जब आधारभूत परिवर्तनों का शिलान्यास होता है। ऐसा एक समय ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व आया था जब भारत में महावीर और बुद्ध ने कुछ विशेष प्रश्न उठाये थे। ग्रीस में सुक्रात आदि ने भी अनेक नवीन प्रश्न उठाये। इन प्रश्नों से सारे संसार के चिंतन में एक परिवर्तन आया। भारत की परंपरा के साथ पूर्ववर्ती संस्कृति ने परवर्ती संस्कृति को आत्मसात् किया, उसे संघर्षपूर्वक नष्ट करने का यत्न नहीं किया। उपादेय के ग्रहण व हेय के त्याग से दोनों में सामंजस्य बैठा, उनमें परस्पर दूरी नहीं आयी।

ऐसा समय फिर सत्रहवीं शताब्दी के अंत में आया जब विज्ञान ने पदार्थों के परिमाण को निश्चित करने पर ज़ोर दिया एवं अपरिमेय वस्तुओं को विज्ञान में स्थान न देने का मानस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बनाया। इससे पूर्व वैज्ञानिक चिंतन में यह विचार नहीं था। न्यूटन आदि के प्रयासों के प्रभाव से तकनीकी उत्थान हुआ जैसे जेम्स वाट ने वाष्पयन्त्र का निर्माण किया जो निरंतर चलती रहने वाली शक्ति दे पाया। इससे पहले मनुष्य की या पशुओं की शक्ति के प्रयोग से ही उद्योग चलते थे। उन शक्तियों की सीमा थी। उद्योग अकेला व्यक्ति या कुछ लोग मिलकर करते थे। बहुत कम परिमाण में वस्तुओं का उत्पादन हो पाता था। बाष्पयन्त्र बनने से एक नवीन दृष्टि मिली : बारहों महीने, सातों दिन, चौबीसों घंटे यन्त्र चलाये जा सकते हैं! अतः उत्पादन-सामर्थ्य अत्यंत विकसित हो जाने से बहुत बड़ी तादाद में वस्तुओं का निर्माण संभव हो सका। ऐसे यंत्र एकत्र कर पाने वाला उद्योग का अधिपति व यंत्रों का संचालन आदि करने वाले उसके नौकर बने। पहली बार यह परिस्थिति हुई कि बहुत ज्यादा पदार्थ तैयार होकर किसी एक व्यक्ति के स्वामित्व में रहें, वह उन्हें बहुत विस्तृत क्षेत्र में बेचकर सारा धन स्वयं प्राप्त करे व उस ध ान से अपने नौकरों को पारिश्रमिक दे। इसी का नाम औद्योगिक क्रान्ति पड़ा। क्रांति में किसी परंपरा या व्यवस्था को उखाड़कर नयी स्थापना की जाती है। पहले उत्पादनकर्ता मालिक होता था, अब वह केवल मजदूर रह गया, स्वामी वह बन गया जो यंत्रसमूह स्थापित करे। पहले इंग्लैंड में, फिर यूरोप में और धीरे-धीरे यह क्रान्ति सारे संसार में फैली।

लगभग इसी समय अंग्रेज़ों ने भारत पर अपना राज्य कायम किया। भारत में यह क्रांति उतनी ही आ पायी जितने से अंग्रेज़ों को लाभ हो। फिर भी इसका प्रभाव, अवश्य पड़ा। सामाजिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व आर्थिक व्यवस्थाओं में ऐसे परिवर्तन आ गये कि अनेक विचारों के परिष्कार व परिवर्तन का वातावरण तैयार हुआ। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद गत पचास वर्षों में भारत में औद्योगिक क्रान्ति खुलकर आयी जिससे हुए परिवर्तन बाध्य करते हैं कि हम अपने प्राचीन मूल्यों के सन्दर्भ में नवीन परिस्थिति पर विचार करें। मर्य, नर्य, दिव्य संस्कृतियों की चर्चा इस उद्देश्य से है कि मर्य की प्रधानता हटायी जा सके, नर्य और यथासम्भव दिव्य की ओर बढ़ा जा सके।

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप हिंदुओं की आधारभूत समाज संस्था—वर्ण-आश्रम—समाप्तप्राय हो गयी। वर्णधर्मों के नियमन का आधार है कि व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक अपने कार्य कर सकता है। आनुवंशिक शुद्धि और सामाजिक सम्बन्ध के द्वारा उक्त व्यवस्था का विकास हुआ। आनुवंशिक परंपरा और चारों ओर के वातावरण से ही व्यक्तित्व का निर्माण होता है। अपने-अपने वर्णों व जातियों में ही विवाह के बंधन से आनुवंशिक परंपरा दृढ हुई एवं भोजनादि सब व्यवहार भी उसी प्रकार सीमित रहने से अनुकूल वातावरण का निर्माण हुआ। उदाहरण के लिये, ब्राह्मण-ब्राह्मणी से उत्पन्न बालक इसी वातावरण में पलता था कि विद्या ही श्रेष्ठ है, विद्या के लिये ही उसे सब ओर से प्रेरणा मिलती थी, उसके पितृकुल व मातृकुल में विद्यावानों की ही परंपरा होती थी। समाज में त्रैवर्णिकों के प्रति सन्मान होने से अन्य जाति भी प्रतिष्ठा पाने के लिये उन्हीं के मूल्य अपनाने का प्रयास करती थी। घुर्ये नामक विचारक ने सामाजिक विकास की इस प्रक्रिया पर काफी प्रकाश डाला है। किन्तु

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपने-अपने कार्यों में स्वातंत्र्य रहते ही यह व्यवस्था चल सकती थी। औद्योगिक क्रांति से यह व्यक्तिशः रचना अप्रभावी बन गयी। उद्योग के कार्य में सभी वर्णों का सहयोग अपेक्षित हो गया है। वर्णधर्मों के परिभाषित भेद कायम रख पाना संभव नहीं रह गया है जिसके फलस्वरूप जैसा व्यक्तित्व-निर्माण प्राचीन व्यवस्था में सहज-सा था वैसा अब नहीं रह गया है।

आज समाज में धनी का प्राधान्य है। मार्क्स से प्रभावित हो लेनिन आदि ने मज़दूरों के अधिनायकवाद का प्रयोग किया जिसमें अर्थव्यवस्था किसी व्यक्ति के बजाये राज्य के हाथों होती है तथा राज्य कम-से-कम सिद्धांततः, मज़दूरों से नियंत्रित होता है। किन्तु उस व्यवस्था में भी प्रधानता धनकी ही है। क्योंकि सबके सामने केवल धन का महत्त्व है इसलिये आज सहयोग के बजाये प्रतियोगिता की भावना प्रबल है। व्यक्तियों व समाजों में प्रतियोगिता का दृष्टिकोण दृढ हो गया है। इसी से पूंजीवाद की प्रधानता हुई है। इससे समाज की रचना और चिंतन में अंतर आया है। यातायात सुविधाओं से विभिन्न देशों में आवागमन बढ़ जाने से विभिन्न संस्कृतियों के भी प्रभावों की बहुतायत हो जाती है। नाना प्रकार की संस्कृतियाँ, धर्म, विचारधाराएँ, जीवन पद्धतियाँ, खान-पान आदि समाज पर असरदार हैं जिससे स्थिरता कायम नहीं रह पाती है। समाज धीरे-धीरे नये मूल्यों को आत्मसात् करता है। समाज के अग्रणी लोगों का कार्य है कि इस ओर ध्यान रखें कि परिवर्तन आधारभूत नियमों के विरुद्ध न हो।

संचार क्रांति से यह परिस्थिति बनी है कि धन खर्च कर विचारों का अत्यंत प्रभावी और विस्तृत क्षेत्र में प्रचार होता है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अतः जिसके पास धन कम है वह उस प्रचार का विरोध करने में अक्षम हो गया है। ईसाई संस्कृति वालों के पास अधिक धन होने से उनका प्रचार भी सर्वाधिक हुआ है। यद्यपि मिट्टी के तेल के असंख्य उपयोगों के चलते अरब देशों में भी अत्यधिक धन एकत्र हुआ है तथापि वे प्रचार-साधनों का ईसाइयों की तरह प्रभावी प्रयोग नहीं कर पाये क्योंकि सम्भवतः उनके विचार ऐसी पिछड़ी बातों से सम्बद्ध हैं कि उन्हें संग्राह्य रूप में उपस्थित करना शक्य नहीं। हिन्दू संस्कृति वालों के पास धनकी कमी रहने से वे अपनी विचारधारा के प्रचार में असमर्थ हो रहे हैं। हिन्दू जनमानस भीतर ही बौखला गया है जिसका एक रूप हुआ कि विदेशी संस्कृतियों के प्रभाव यथावत् स्वीकारे जाने लगे हैं। शरीर अन्न-जल आदि से पुष्ट होने के लिये एवं मन-प्राणको विकसित करने के लिये उपभुक्त वस्तुओं से आवश्यकतानुसार तत्त्वों का चयन और परिपाक करता है, यंत्रवत् जो आये उसे ग्रहण ही नहीं करता जाता, छाँटकर लेता है, व्यर्थ वस्तुओं का परित्याग करता है, अवांछित वस्तु ग्रहण कर ली जाये तो उसके विरोध में प्रतिक्रिया भी व्यक्त कर उसके निःसारण का ही प्रयत्न करता है। इसी प्रकार समाज-शरीर नये विचारों को यदि आत्मसात् कर पाता है तब समाज स्वस्थ रहता है किन्तु चयन और परिपाक के बिना यथावत् थोप लेने से उसके विरोध में प्रतिक्रिया हो ही जाती है। नवीन को निर्विवेक अंगीकार करना तथा नवीनमात्र का विरोध ही करना—दोनों ही अतिवाद हैं, नवीन से पोषण पाने की ग़लत प्रक्रिया के विरोध में प्रतिक्रियाएँ हैं। कालिदास कह गये हैं 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' पुरानी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बातें सब ठीक ही हों ऐसा नहीं है अतः विवेकपूर्वक उनमें दोष निर्धारित हो तो उनका त्याग भी उचित है। नवीनता को ग्रहण ही न करना और उसे अपने प्रवाह के अनुरूप ढाले बिना यथावत् ग्रहण करना—दोनों अतिवाद हानिकारक हैं।

बहुत ज्यादा परिवर्तन बहुत कम समय में आएँ तो किसी भी समाज को झकझोर सकते हैं। निकट भूत में ऐसा ही हुआ है जिससे आज आधारभूत मूल्यों पर पुनः विचार करना आवश्यक हो गया है, तभी हम नवीनता को आत्मसात् करने का उत्तम प्रकार अपना पायेंगे। उन मूल्यों को पहचानना जरूरी है जिनके आधार पर हज़ारों वर्षों में हज़ारों प्रकार के परिवर्तन होते रहने पर भी वैदिक धर्म की परम्परा जीवित रही। कोई भी बुद्धिमान् नहीं कह सकता कि वैदिक संस्कृति यथावत् रही, उसका बाह्य रूप परिवर्तित नहीं हुआ; परन्तु वैदिक संस्कृति का मूल अपरिवर्तित रहा अतः आज भी सनातनी को यह कहने में अभिमान होता है कि हमारे मूल्य वैदिक हैं। वैदिक भाषा हमारे लिये कठिन हो सकती है, आज प्रचलित मूल्य की वेद मूलकता सिद्ध करना मुश्किल हो सकता है, पर वेदों के बारे में हिन्दू को विशेष अभिमान अवश्य है। वेदवचन का हमारी मान्यता से विरोध उपस्थित होने पर हम उस वचन के तात्पर्य-निर्धारण में अवश्य प्रवृत्त होते हैं तथा यदि मान्यता वस्तुतः उसके विरुद्ध निकले तो मान्यता में ही शोधन की चेष्टा करते हैं। वेद पर यह निष्ठा, श्रद्धा, वैदिक संस्कृति के प्रवाह की निरंतरता की प्रकाशक है। संस्कृति स्थिर वस्तु न होकर प्रवाहात्मक होती है। जब तक हम दिव्य को श्रेष्ठ देखेंगे, उसके प्रति सन्मान रखेंगे तब तक हमारे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सामने वैदिक आदर्श है, भले ही हम उसे सर्वांश में जीवन में न उतार पा रहे हों। अतः वैदिक परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिये मूलभूत सिद्धांत समझना जरूरी है ताकि आधुनिक मूल्य आत्मसात् किये जा सकें, थोपे हुए न रह जायें या पारंपरिक मूल्यों के स्थानापन्न न हो जायें।

इस प्रवचन माला के समय भारत में संगणकों का आम प्रयोग होगा यह कल्पना का भी विषय शायद नहीं था। विविध प्रकार के यन्त्रोपयोग से वैयक्तिक व सामाजिक दैनन्दिन जीवन तक में विशाल अंतर आ गया है। वैदिक चिन्तन की महत्ता उसकी सार्वकालिकता है अतः वेद के दृष्टिकोण से प्रतिपादित संस्कृतियों का यह विचार प्रायः चालीस साल बाद प्रकाशित होते हुए भी अत्यन्त उपयोगी प्रतीत होता है। प्रचार माध्यमों से विदेशी संस्कृतियाँ हम पर अधिकार प्राप्त कर रही हैं। इससे बचने का एकमात्र उपाय पुनः अपने संस्कारों की तरफ ध्यान ले जाना है, उनके वैशिष्ट्य को पहचानकर इस प्रवाह से अपना रक्षण करना है। केवल किसी पूर्व रूप को पुनः उपस्थापित करने से रक्षा नहीं होगी, इसके लिये चिन्तन करना आवश्यक है। इन प्रवचनों में कही बातों का अक्षरशः पालन किया जाये ऐसा वक्ता का तात्पर्य नहीं है, परन्तु उन दिशाओं में सोचना जरूरी है क्योंकि तभी इस औद्योगिक क्रांति को, वैज्ञानिक तकनीकों को मोड़कर ऐसी संस्कृति का निर्माण करेंगे जिसमें नर्यभाव ओझल न होकर उस ओर समाज का प्रवाह हो पाये और नर्यता हमें दिव्यता तक पहुँचाये। ऐसा दृष्टिकोण बने तभी यह प्रयत्न सफल होगा। भगवान् उमारमण-रमारमण से प्रार्थना है कि वे विचारकों को इस तरफ प्रवृत्त करें और समाज अपनी संस्कृति के सर्वनाश से बच सके।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मानव और समाज

संस्कृति-विचार

नीति (Ethics) का सम्बन्ध केवल परलोक से नहीं है। मानव-समुदाय में व्यक्तियों के सम्बन्धों में कुछ 'अच्छा' माना जाता है, कुछ नहीं। आज प्रशंसा धन की सुनकर हर कोई धन की तरफ प्रवृत्त हो रहा है। निम्न मूल्य को प्रशंसा मिलने पर समाज उसी ओर बढ़ेगा। भारतीय चिन्तन में तीन विचारधाराएँ मानी गयी हैं—नर्य, मर्य और दिव्य। नर्य संस्कृति में परलोक प्रध ाान है, इहलोक के विषयों में रमण न किया जाना बेहतर माना गया। दिव्य में परलोक व इहलोक को बराबर, समकक्ष माना गया है। मर्य नीति का केन्द्र है "हमें अधिकाऽधिक ऐन्द्रिय सुख कैसे मिले" अर्थात् यह भोग से सुख की नैतिकता है (ethics of joy)। मर्य संस्कृति वैषयिक सुख-भोग को प्रधानता देती है, दुःख मिटाने के लिये भौतिक उपकरण बटोरकर उनका प्रयोग करना प्रधान समझती है। इस धारा में केवल मर्त्य लोक दृष्टि में रखा जाता है। अतः सत्य का भी लक्षण मानते हैं—जो कार्यकारी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हो (that which works)। 'आत्मप्रसादवाद' से हिन्दी में अनूदित Eudaemonism में जीवन का सुख अभीष्ट है। इसमें व्यक्तिगत सुख के उद्देश्य से युक्ति-निर्धारित नैतिकता को मान्यता है। 'सुखवाद' से अनूदित Hedonism में क्षणिक सुखों की प्रधानता है। Eudaemonism 'कला दर्शन' की ओर बढ़ता है क्योंकि इसमें सुखप्राप्ति की प्रक्रिया को दृष्टि में रखा जाता है। Hedonism केवल वैषयिक सुखभोग पर ज़ोर देता है। इनकी अपेक्षा तीसरे हैं 'उपयोगितावादी' (Utilitarian) जिनके लिये सुख के साधन एकत्र करना ही प्रधान है। इन तीनों दृष्टियों में इस लोक में सुख को ही केंद्र माना जाता है। पुरुषार्थों की भाषा में सुखवादी कामप्रधान है, उपयोगितावादी अर्थप्रधान है, आत्मप्रसादवादी धर्मप्रधान है किन्तु धर्म के उस अंग पर बल देने वाला जिसका ऐहिक फल हो क्योंकि ये तीनों ही वादी सुख इसी लोक में चाहते हैं। इन्हीं में व्यक्ति को प्रधान मानने वाले व्यष्टिवादी और समाज को प्रधान मानने वाले समष्टिवादी समझे जाते हैं। किन्तु क्योंकि ऐहिक सुख ही उद्देश्य है इसलिये इन सिद्धान्तों में समाज के नियम परिवर्तनशील हैं अतः यहाँ नैतिकता (ethics) में भी अन्तर आता है। इहलोकनिष्ठ होने से सापेक्षता को महत्त्व है (relativistic attitude), निश्चित नियमों को समय के अनुसार बदलने की दृष्टि है।

नर्य संस्कृति केवल परलोक की तरफ दृष्टि रखती है। अतः इसमें सर्वतोभावेन निश्चितता (absolutism) है, ग्रन्थ या पैगम्बर के आधार पर पारलौकिक दृष्टिकोण निर्धारित है। इसलिये मर्य का विरोधी नर्य का विचार है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भारतीय इतिहास के मध्यकाल में नर्य-दृष्टि वालों ने इस लोक से सर्वथा मुख मोड़ना उचित समझा, उपलब्ध संसार से बिलकुल भिन्न किसी परलोक पर दृष्टि एकाग्र करना नर्य को इष्ट है। जैसे मर्य में लौकिक हितार्थ कर्मिष्ठ रहना उचित माना जाता है ऐसे नर्य में देवता यज्ञों से तृप्त हों इसके लिये तत्परता का औचित्य है।

इन दोनों से विलक्षण है दिव्य संस्कृति जिसमें दृष्टि प्रेममयी होने से 'सह नौ यशः' की प्रार्थना है कि हमें साथ-साथ यश मिले। अतः इस विचारधारा के अनुसार नैतिकता भी प्रेमनिष्ठ होती है (ethics of love)। दिव्य- दृष्टि से नर्य-मर्य दोनों एकांगी हैं क्योंकि एक इहलोक को ही मानकर चलती है, दूसरी परलोक को ही। दोनों पर ज़ोर देना—यह दिव्य संस्कृति है। इसमें आदर्श महान् सामने रखा जाता है और संगठित रहकर कर्म किये जाते हैं। केवल लक्ष्य ऊँचा रखना या केवल कर्मठ रहना विकास के लिये उपयोगी नहीं : आकाश-तारों का निरीक्षण करते हुए गड्ढों में गिरते रहना कोई बुद्धिमानी नहीं और गड्ढों से बचते मात्र रहना, किसी उच्च गन्तव्य की ओर बढ़ना ही नहीं—यह भी मतिमान् का कार्य नहीं। दिव्य संस्कृति दोनों के सामंजस्य, सन्तुलन पर बल देती है, आदर्श और व्यवहार, प्रयास दोनों के समन्वयन से विकास सम्भव है।

प्रेम की नैतिकता (ethics of love) की दृष्टि सुख की और सिद्धांतों की नैतिकताओं (ethics of pleasure, ethics of principles) से आगे बढ़ती है। सैद्धान्तिक नैतिकता का उद्देश्य स्थायी स्वर्ग (eternal heaven) है जबकि प्रेम की नैतिकता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सामाजिक सम्बन्धों का, व्यवहारों का, प्रक्रियाओं का, संस्थाओं का प्रेममय विकास चाहती है, प्रेम के आधार पर इनकी अभिवृद्धि करती है। दिव्य संस्कृति प्रेम की कमी को अवनति (retrograde) मानती है। समाज-घटक व्यक्ति केवल उत्पादन के साधन नहीं हैं। व्यक्ति के प्रति समाज प्रेम प्रकट करे यह ज़रूरी है।

एक सिद्धांत ऐसा है जिसे सिद्ध, निश्चित मानकर हम चलते हैं; मूल सत्य हमेशा उपस्थित है यह स्वीकार कर आगे बढ़ते हैं : वेद ने दिव्य दृष्टि रखी तो यह मानकर कि 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' एक परमेश्वर सभी प्राणियों में प्रवेश किया बैठा है। इस सिद्धांत पर ही प्रेम संभव है। पाश्चात्य संस्कृति पड़ोसी से प्रेम करने को कहती है पर पड़ौसी को कभी अपने से एक नहीं मानती, उसे हमेशा पड़ौसी ही रहने देती है। इससे उत्कृष्ट है मध ुरभाव का, पति-पत्नी का सा प्रेम जहाँ भेद दीखते हुए भी आपसी अभेद का अनुभव है। व्यक्ति-समाज में इसी मधुरभाव की स्थापना हमारा आदर्श है।

लोग सोचते हैं कि किसी देश-काल में ये आदर्श पूर्णरूप से पालन किये गये होंगे ! किन्तु यदि ऐसा होता तो ये 'आदर्श' ही नहीं रहते ! आदर्श कहते ही उसे हैं जो सर्वांश में इतना निर्दोष, सुव्यवस्थित, परिपूर्ण हो कि व्यावहारिक धरातल पर उसका समग्र अनुकरण संभव न हो। जैसे प्रयोगशाला की परिस्थितियाँ (laboratory conditions) दैनंदिन परिवेश में संभव नहीं, पर उन्हें समझना आवश्यक है ताकि अधिकाधिक लाभ उठाने के लिये हम परिस्थितियाँ बेहतर करते जायें, ऐसे ही आदर्श को पूर्णतः जीवन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में उतारना संभव नहीं पर जितना उसके समान हो सकेंगे उतना ही हम वह फल भी पायेंगे जो उस आदर्श ने प्राप्तव्य बताया है। आदर्श समाज के सामने रखा जाता है पर कभी-कहीं समाज पूरी तरह वहाँ तक नहीं पहुँचता। अतः प्राचीन घटनाओं और किस्सों के आधार पर आदर्श के औचित्य का विवेचन करना असंगत है। भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं "प्रामाण्यचिन्तायां पुरुषप्रवृत्तेः अदृष्टान्तत्वात्" कि जब प्रमाण पर आधारित विचार हो तब किसी व्यक्ति ने क्या किया—नहीं किया, इसे निर्णायक उदाहरण बनाना उचित नहीं। जैसे व्यक्ति ऐसे ही तत्तत् घटनाओं को दृष्टान्त बनाकर समाज के आदर्श का आकलन ठीक नहीं; समाज में व्यक्ति के स्थान पर ही समूची ऐतिहासिक प्रक्रिया में प्रत्येक घटना है। विचारों की सरणि में प्रमाण का स्थान व्यक्ति नहीं ले सकता। इसी आधार पर वैदिक गुरु कहता है "यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि" कि हमारे सच्चरित्रों का अनुकरण करना, हमारी गलतियों का नहीं ! अपने उपदेश का पूरी तरह खुद पालन कर ही सके यह हर गुरु के लिये संभव नहीं पर इससे उसका उपदेश सदोष नहीं हो जाता और न ही गुरु की कमज़ोरी को नज़ीर बनाकर शिष्य के लिये उन गलतियों को अपनाना उचित हो जाता है। अपनी ग़लती को, असमर्थता को स्वीकारना बेहतर है बजाय इसके कि हम आदर्श के प्रति शंकालु हो जायें। आदर्श को परिवर्तित हम नहीं कर सकते। अपनी ग़लती छिपाने के लिये आदर्श को धूमिल करना महान् दोष है।

एकता के आधारभूत सिद्धांत का सामाजिक धरातल पर विस्तार प्रेम की नैतिकता के रूप में हमारा आदर्श है। इस ओर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रगति करने के तरीके देश-काल के अनुसार बदलेंगे। किन्तु तरीकों को ठीक-ग़लत समझने के लिये परीक्षा प्रेम के आदर्श से मिलान करने पर ही होगी। प्राचीन काल में महात्मा तपोबल से किसी रोगी को स्वस्थ बनाते थे, आज उन्नत औषधिविज्ञान के बल पर करोड़ों रोगी स्वस्थ हो सकते हैं, किन्तु उस महात्मा का प्रयास इसलिये महान् था कि उसका उस रोगी के प्रति जो प्रेम था वैसा प्रेम हमारा नहीं है। रोगनिवारण की प्रधानता की दृष्टि से अधिक रोगी ठीक कर सकना विकास कहलायेगा किन्तु प्रेम की प्रधानता की दृष्टि से अधिक रोगियों को लाभ पहुँचाने पर यदि उनसे प्रेम सम्बन्ध घटता है तो विकास नहीं, ह्रास कहा जायेगा। पहले विद्वान् एक ग्रंथ रचते थे और चार-छह शिष्यों को ही पढ़ा पाते थे, आज ज्ञान के प्रसार की इतनी सुविधा है कि विद्वान् की रचना-सामर्थ्य भी बढ़ गयी, उसके ग्रंथों की सद्यः लाखों लोगों को उपलब्धि भी होने लग गयी और विभिन्न साधनों के सहारे वह सैकड़ों छात्रों को पढ़ाने भी लग गया; ज्ञान के आदान-प्रदान में अकल्पनीय वृद्धि हुई है इसमें कोई सन्देह नहीं; पर क्या गुरु का शिष्यों के प्रति और शिष्यों का गुरु के प्रति प्रेम बढ़ा है ? प्रेम की नैतिकता इस सुविधा-तंत्र को विकास तब तक नहीं स्वीकार सकती जब तक इससे आपसी प्रेम में वृद्धि न हो। दिव्यदृष्टि में अपने और पड़ौसी की विभाजक दीवार को ढाना पड़ेगा; सारे समाज में एक चेतना है यह मानकर आगे बढ़ना दिव्य दृष्टि है।

शास्त्रीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में स्मृति ग्रंथों को देश-कालानुसारी अध्ययन समझना चाहिए। सभी आस्तिक स्मृतियाँ वेद के स्वतः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिद्ध प्रामाण्य में निःसंदिग्ध हैं। श्रुतिप्रतिपादित आधारभूत सिद्धांत को स्मृतिकार ऋषियों ने बदला नहीं। उसी सिद्धांत की व्यवहार-भूमि पर अभिव्यक्ति के प्रकारों का अनुसंधान स्मृतियों में किया गया। स्मृतियों की तुलना कर आजकल उन ऋषियों को सापेक्षतावादी कहने लगे हैं जबकि उनका मूलभूत सिद्धान्त वही निरपेक्ष एकत्व था जो वेद में घोषित है। एकत्वकी अभिवृद्धि सापेक्षतावाद का सिद्धान्त नहीं है। स्मृतिकारों का आपसी भेद इससे नहीं कि उनके सिद्धांतों में तारताम्य या अलगाव था वरन् एक ही वैदिक आदर्श का सबने अपने-अपने चिंतनानुसार, अपने देश-काल-अधिकारियों को दृष्टि में रखकर जो कार्यकारी रूप उपस्थित किया है उसमें वैलक्षण्य है। सनातन विचार यही है कि व्यक्ति का आदर्श आनन्द की प्राप्ति है। प्राणिमात्र में आनंद का प्रस्फुटन हो यह दिव्य संस्कृति की सामाजिक विचारधारा का केन्द्र है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वितीय प्रवचन

व्यष्टि और समष्टि

मानव एक स्वतंत्र इकाई नहीं है। तैत्तिरीय उपनिषत् के अनुसार कह सकते हैं कि इसके पाँच अधिकरण या धरातल हैं—अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म। समस्त लोकों से मानव का सहज सम्बंध है, उनसे सर्वथा असंबद्ध रहकर मानव का अस्तित्व नहीं है। जो कुछ भी प्रकाशप्रद, ऊर्जाप्रद है उससे सम्बद्ध हुआ ही मानव रहेगा, ज्योतियों से निरपेक्ष होकर रह नहीं सकता। विद्या के धरातल पर भी मानव का अनिवार्य स्थान है, वह स्वयं को विद्यामात्र से छुड़ाकर मानव बना रहे यह संभव नहीं। प्रजा अर्थात् पितृ-पुत्र परंपरा भी मानव का एक अधिकरण है, वह इस परंपरा का घटक होकर ही आया है और ऐसा ही रहेगा। मानव का पाँचवाँ अधिकरण आत्मा अर्थात् उसके स्थूल-सूक्ष्म शरीर हैं; जिसे 'स्वतंत्र इकाई' कहा जाता है वह ये देह ही हैं और संपूर्ण अधिकरणों की दृष्टि से इन्हें पंचमांश ही माना जा सकता है। इस प्रकार समाज केवल व्यक्तियों का समूह नहीं है, इन सभी धरातलों के सन्दर्भ में समाज का स्थान है।

क्योंकि जन्म से मृत्युपर्यन्त मनुष्य समाज पर आधारित रहता है इसलिये यह आवश्यक है कि वह सामाजिक दृष्टिकोण रखे। जन्मक्षण से ही मानव का सामाजिक जीवन प्रारंभ हो जाता है और उसके सर्वविध विकास के लिये हर कदम पर सामाजिक आवश्यकताएँ बनी रहती हैं। समाज से अनुपकृत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कोई मानव नहीं रह सकता अतः समाज के प्रति दायित्व भी प्रत्येक मानव का अवश्य बनता है। 'अकेला' अर्थात् समाज से असम्बद्ध मनुष्य न पैदा हो सकता है, न जीवित रह सकता है तो इसमें क्या कहना कि समाज को नज़रन्दाज़ कर वह कोई विकास नहीं कर सकता, किसी महत्त्वाकांक्षा को पूरा नहीं कर सकता।

मनुष्य स्वयं व्यक्तिगत रूप से सब कुछ नहीं जान सकता। आज भाषा का अध्ययन कोषों की कृपा से सरल है; प्राचीन युग में कोष दुर्लभ थे अतः विद्वत्ता के लिये बहुत सारी जानकारी बटोर कर याद रखनी पड़ती थी, चलता-फिरता विश्वकोष (walking encyclopaedia) बनना पड़ता था। आज सूचना मिलना और रटे बिना उसे अपनी पहुँच में रखना बहुत सुलभ है, फिर भी सब ज्ञान प्राप्त कर सके यह एक व्यक्ति के लिये असंभव है। ज्ञान- परम्परा में हुए पूर्वजों के अन्वेषण सर्वतोभावेन नहीं दुहराये जा सकते, उन्हें स्वीकार करना अनिवार्य है जो सामाजिक संगठन का आधार बन जाता है। आज एक वैद्य अपना नुस्खा दूसरों को नहीं बतलाता तो यही नतीजा हो रहा है कि धीरे-धीरे वैद्यक उपचार और औषधियाँ अज्ञात होती जा रही हैं। वैज्ञानिक क्योंकि ज्ञान के आदान-प्रदान में प्रतिरोध रखना उचित नहीं मानते, अपनी जानकारी सर्व-साधारण के लिये प्रकट कर देते हैं और सभी केंद्रों से ज्ञान लेने को तैयार हैं, इसीलिये उनका ज्ञानक्षेत्र विकसित हो रहा है। विज्ञान ही नहीं, साहित्य आदि अन्य विषयों में भी यही बात है। हमारे विद्वान् एक दर्शन और उसके भी कुछेक ग्रंथों में सीमित रहकर जीवन बिता देते हैं और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पाश्चात्य दार्शनिक पश्चिमी दर्शनों को पढ़कर फिर भारतीय दर्शनों का अध्ययन कर हमारे ग्रंथों की समालोचना (criticism) कर लेते हैं ! यह एक आश्चर्य ही है। हमारे यहाँ चलन हो गया है अपना ज्ञान छिपाने का, एक शास्त्र का जानकार अपने विषय के रहस्य अन्य शास्त्र के ज्ञाता को बताना नहीं चाहता। इस व्यक्ति-निष्ठता से हम पीछे हटते चले जा रहे हैं, यह दृष्टि नहीं रही कि समग्र समाज की थाती के रूप में हमें ज्ञान मिला है, इसे सारे समाज के लिये सुलभ करें; जिसका फल है कि अपना ही साहित्य पूरा नहीं पढ़ पाते तो नया अन्य साहित्य पढ़कर कोई परिष्कार ला सकें इसकी संभावना नहीं रह गयी।

साधना के क्षेत्र में भी इस भावना का प्रवेश हुआ कि साधना के सूत्र दूसरों को न बतायें ! साधना है ही साधक के विकास के लिये, सीखेगा तभी कोई साधना में आगे बढ़ सकता है, पर इसमें भी हमने सीमित दृष्टि कर ली। प्राचीनों ने नियम बनाया था कि जो विद्या के अयोग्य हो उसे विद्या नहीं देनी चाहिए क्योंकि वह उसका संरक्षण कर नहीं पायेगा बल्कि अपना और स्वयं विद्या का नुकसान कर लेगा। यह दृष्टि सर्वथा उचित है क्योंकि जैसा प्रसिद्ध है—बंदर के हाथ में तलवार होगी तो मक्खी उड़ाने में नाक काट लेगा ! ऐसे ही अयोग्य व्यक्ति भली से भली विद्या का दुरुपयोग कर सबका नुकसान ही करेगा। किन्तु प्राचीनों का यह भी नियम था कि सब प्रकार के प्रयास करो कि विद्यातन्तु चलता रहे, सम्प्रदाय सुरक्षित रहे, शिष्य-परंपरा बनी रहे। अयोग्य से बचाने के साथ योग्य को शिक्षा देना भी कर्तव्य है—यह भूलने से ही आज यह परिस्थिति है कि अनेक साध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ानापद्धतियाँ सर्वथा विलुप्त हैं, कहीं कोई लिखित निर्देश मिले भी तो उसे समझ सकने का कोई उपाय नहीं है क्योंकि परंपरा से वह विद्या किसी को प्राप्त नहीं है। सामाजिक दृष्टि के अभाव में हमारी वृत्ति संकुचित होती गयी और व्यवहार में भी संकोच, संकीर्णता का प्रवेश हो गया। मीमांसावार्तिककार कुमारिल भट्ट ने धर्म-प्रसंग में देशीय रीति-रिवाज़ों का भी विवेचन किया, वे अक्षरशः पुस्तकारूढ नहीं हैं यह कहकर उनकी उपेक्षा नहीं कर दी। धर्म के नियम अटल हैं, उन्हें कालसापेक्ष नहीं माना जा सकता। अतः कुमारिल ने धर्म के मापदण्ड से उन रीति-रिवाज़ों का परीक्षण उचित समझा। यह व्यापक दृष्टिकोण है। परीक्षा करके हम अनुपयोगी समझकर छोड़ें तब तो ठीक है पर यदि समझने की कोशिश ही नहीं की तो अनेक उपयोगी पद्धतियों के उपयोग से वंचित ही रहना पड़ेगा।

आज एक मान्यता अनिश्चय की स्थापित हो रही है। पाश्चात्य भौतिक शास्त्र में भी इस दृष्टि का उन्मेष हुआ है। ईश्वर के सार्वभौम स्थायी नियम हैं। हमारा ज्ञान सीमित होने के कारण हम उन नियमों तक पहुँच नहीं पा रहे हैं अतः यह हो सकता है कि हम निश्चय न कर सकें, पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि संसार में अनिश्चितता है। अनिश्चयवाद में विचार की प्रगति संभव नहीं। आगे बढ़ने के कुछ कदम हैं, इन्हीं से चिन्तन में विकास होता है। सर्वप्रथम प्रश्न की दृष्टि है कि संसार में जो कुछ है वह ऐसा क्यों है ? क्या कोई अनिश्चित पदार्थ प्रभाव डालता है अर्थात् क्या हम किसी के हाथ की कठपुतली हैं? देव-शक्तियों में कोई नियम है या नहीं ? भोजन से भूख मिटना,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पानी पीने से प्यास बुझना—ये नियम हैं पर ऐसे नियमों को जाना कैसे जाये ? प्रश्न के बाद दूसरा कदम है बौद्धिक स्तर पर घटाने का (metaphysical step)। इसमें युक्ति का, तर्कानुसारी समझ का, वैचारिक सामंजस्य का उपयोग होता है जिससे उत्तर की ओर दिशा मिलती है। किन्तु अभी ज्ञान विक्षिप्त या छितराया हुआ है। बौद्धिक निश्चितता व्यवहार में यथावत् नहीं चला करती। अतः तीसरा कदम लेना पड़ता है तथ्य बटोरने का (fact finding)। निर्णय करने से पहले व्यवहार भूमि में जो कुछ जैसा है उसे पता लगाना जरूरी है। इन जानकारियों के आधार पर जब बौद्धिक चिन्तन का परिष्कार होता है तब नियमों के विषय में आवरण हटता है। पदार्थ- सम्बन्धी तथ्यों का ज्ञान बढ़ने पर यदि उस सबको संगठित रूप न दे पायें तब भी निर्णय नहीं हो पायेगा। सत्य परस्पर विरुद्ध नहीं होता अतः सत्य जानकारियों का समन्वय आवश्यक है।

जिस प्रकार अन्न पेट में डाल लेने मात्र से पुष्टि निश्चित नहीं हो जाती, जीर्ण हुए बिना अन्न पोषण नहीं करता, उसी प्रकार जितना ज्ञान एकत्र हो जाये उसे पहले 'हज़म' करना पड़ता है तब वह अपनी विचारधारा बनकर आगे नवीन ज्ञानों को विकासोन्मुख रूप से ग्रहण कर पाता है, उन्नति की श्रृंखला चल पाती है, पिछला कदम स्थिर रहते हुए अगला कदम दृढ पड़ता है। नेपोलियन बहुत आक्रामक वीर था, विजय करता जाता था पर यही कमी थी कि 'हज़म' नहीं कर पाया ! जानकारी पाना ज्ञान है, उसे अनुभव में उतार लेना, आत्मसात् कर लेना विज्ञान है। मानव का वैचारिक ह्रास तब होता है जब वह ज्ञान में तो आगे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बढ़ जाये और 'विज्ञान' से दूर होता जाये। विज्ञान से अर्हाएँ मिलती हैं क्योंकि विज्ञान स्तर पर ही किसी सूचना का सर्वतः विश्लेषण हो पाता है : अत्यन्त सीमित परिप्रेक्ष्य में हुए अनुभव को अखण्ड विश्व के संदर्भ में आँकना तब तक संभव नहीं जब तक वह अनुभव विज्ञान-भूमिका तक न पहुँचे। छोटी-से-छोटी घटना का उक्त पाँचों अधिकरणों पर प्रभाव पड़ता है; पाँच की संख्या निदर्शनार्थ है, समस्त संभव भूमिकाओं पर असर आता है। उन प्रभावों के अनुसंधान से ही अर्हा का, मूल्य का, औचित्य का निर्धारण होता है। यह काम केवल सूचना बटोरने से कभी संभव नहीं। आज समग्र संसार के सामने ज्ञान को 'हज़म' करने की समस्या मौजूद है। आज जिसे विज्ञान कहा जा रहा है उसके अन्वेषण हमारे लिये बदहज़मी कर रहे हैं। जिस गति से मनुष्य ज्ञान को 'विज्ञान' में विकसित कर सकता है उससे कहीं ज़्यादा गति से नवीन ज्ञानों की उपलब्धि आज हो रही है। इससे सर्वत्र नैतिकता के संदर्भ में विभ्रम की स्थिति बनती जा रही है।

जिन देशों ने आधुनिक विज्ञान की पद्धतियों का प्रणयन किया उन्हें फिर भी कुछ समय मिला ज्ञानों को पचाने का, परन्तु हमने भारत में आधुनिक विज्ञान को भी 'उधार' लेने की परिपाटी बनायी है जिसका नतीजा है कि ज्ञानों का हमें क्रमशः 'पाचन' नहीं होने से पाश्चात्य विज्ञान हमें स्वयं अपने से ही दूर कर रहा है। जिसका उपरोपण (grafting) किया जाये वह यदि शरीर का अंग न बन पाये तो शरीर में भयंकर प्रतिक्रिया हो जाती है। यही आज हमारा हाल है। ज्ञानों की बाढ़ में हम अपनी अर्हाओं से बिछुड़े इतना ही नहीं, हम यह सोचने का मौका भी नहीं निकाल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहे कि 'हमारी' अर्हाएँ क्या हैं ? हम किन मूल्यों में जीना चाहते हैं, कैसी नैतिकता, कैसा समाज हमें अभीष्ट है, इसके निर्धारण के लिये हमारा आज कोई यत्न नहीं है। हम यह नहीं सोच रहे कि क्या हमें अमेरिका बनना है ? वहाँ की सर्वांगीण स्थिति की आलोचना कर उसमें कोई कमनीयता है, वैसी परिस्थिति भारत में आये यह इष्ट है—ऐसे विचार का कोई प्रयत्न हम नहीं कर रहे। आज हम जो उपकरण और पद्धति कहीं भी विकसित हुई हो उसे यहाँ लाकर उसके तात्कालिक—और मुख्यतः आर्थिक—लाभ में ही सीमित हैं, उसके औचित्य को ही समझने की कोशिश नहीं करते तो उसके वर्तमान और भावी नुकसानों का आकलन करें इसकी संभावना ही कहाँ !

मनुष्य कभी पूर्ववर्ती क्षण में नहीं पहुँच सकता। संसार में प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व के बने रहने का मतलब ही है कि वह उत्तरोत्तर काल में वर्तमान रहे अतः जो भी अस्तित्व में है उसका समय में पीछे हटना संभव नहीं; भविष्य में भूत से सम्बन्ध—यह बात ही विरुद्ध है। भूत का, पूर्वकाल का योगदान इसलिये है कि प्रत्येक अनुभव संस्कार छोड़ता है। हम अपने पुरातन अनुभवों से सीख ले सकते हैं, उनसे आगे के लिये दिशा खोज सकते हैं पर यह कभी नहीं हो सकता कि हम उन्हीं अनुभवों तक लौट पायें। उन जैसे नये अनुभव कर सकते हैं लेकिन वे अनुभव पुनः हों यह संभव नहीं। आज की जानकारी का हमारे चिंतन पर, हमारी भावनाओं पर, हमारे व्यवहार पर प्रभाव न पड़े यह असंभव है जिससे हमारी अर्हाव्यवस्था में अन्तर आना अस्वाभाविक नहीं किन्तु अब तक एकत्र संस्कारों के प्रवाह के अनुरूप यदि वह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिवर्तन न हुआ तो भयावह भँवर की स्थिति हो जाती है। जैसे उपरोपण को मूल शरीर के अनुकूल बनना पड़ता है, विपरीत नहीं हो सकता, वैसे ही पूर्व से आती हुई नैतिकता के अनुरूप ही नयी अर्हा विकसित हो सकती है। सर्वांश में नवीनता, अर्थात् पूर्व का कुछ अनुस्यूत न रहे, यह संभव नहीं।

वेद का आत्मवाद है। हमने आत्मा को अपरिवर्तनशील माना है। हमसे विपरीत बौद्ध हैं जिन्होंने परिवर्तनशील को सत्य माना। वेद की विलक्षण दृष्टि परिवर्तन-अपरिवर्तन के सामंजस्य की है। परिवर्तन में उसे पहचानना है जो अपरिवर्तित है : "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः"—सब भूतों को देखते हुए उनमें एक महादेव का दर्शन पाना है। गति में अगति की खोज वेद का वैशिष्ट्य है। इसे ही भगवान् ने गीता में कहा कि जो कर्म में अकर्म को, और अकर्म में कर्म को, देखे वही मनुष्यों में ऐसा बुद्धिमान् है जिसने सारे कर्म कर लिये ! कुछ अनुगत रहे तभी बाकी सब बदल सकता है, बिना उस अनुगत आधार के बदलाव होगा किसमें ? वेद के अनुसार स्थायी आत्मा पारमार्थिक है जिस पर व्यावहारिक परिवर्तन अध्यस्त है। दण्डा अतितीव्र गति से घूमे तो एक स्थिर चक्र दीखता है ! जैसे यहाँ गति में अगति का अध्यास है वैसे ही निष्क्रिय आत्मा पर सारी क्रियाएँ, सारे परिवर्तन कल्पित हैं। केवल परिवर्तन देखना एकांगी है, उनमें जो अपरिवर्तित है उसे भी साथ देखने से सही ज्ञान होगा। बौद्धों ने स्थायी से दृष्टि हटाकर बड़ी भूल की। धार्मिक जीवन में भी इसका असर आता है। हमारा सिद्धांत है "न कर्मणामनारम्भात् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते"—कर्म प्रारंभ ही न करने से पुरुष नैष्कर्म्य नहीं पा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकता ! बौद्ध यह रहस्य बिना समझे कर्म-त्याग का प्रतिपादन करने लगे। कर्मरहितता नैष्कर्म्य नहीं है वरन् क्रिया की पूर्णता में नैष्कर्म्य की प्राप्ति है। इसका कारण भी स्पष्ट किया गया कि कर्मशून्य होकर कोई क्षणभर भी टिकता नहीं। अतः कर्मरहितता यदि नैष्कर्म्य हो तो असंभव होगा। दौड़ने में अभ्यस्त जब तेज़ी से दौड़ता है तब यह नहीं सोचता कि पैर ऊपर उठा या नीचे गिरा—यह उसका पैरों के संदर्भ में नैष्कर्म्य है। इसी प्रकार जब आपके मन-बुद्धि तीव्र गति से कर्म करें तब आपका नैष्कर्म्य संभव है : नैष्कर्म्य मन-बुद्धि में कभी नहीं आना, वह आत्मा में ही संभव है, अतः मन आदि को निष्क्रिय बनाने की कोशिश न केवल व्यर्थ है वरन् वह कोशिश ही आत्मा को नैष्कर्म्य से च्युत रखती है; जब मन-बुद्धि पूरी तीव्रता से कर्म करते हैं तब क्योंकि रोकने की कोशिश भी रह नहीं जाती इसलिये नैष्कर्म्य स्वतः सिद्ध हो जाता है। स्थायी आत्मा को न समझने से जैसे नैष्कर्म्य और सक्रियता की गुत्थी बौद्ध से नहीं सुलझी, ऐसे ही परिवर्तनों में वह अपरिवर्तित को नहीं देख पाया। आज भी उस अपरिवर्तित की ओर दृष्टि न ले गये तो हम अवश्य धोखा खायेंगे।

सामाजिक संस्कारों को हम धो नहीं सकते। जिसे हम सहज समझते हैं, नितान्त अपना समझते हैं, उसमें भी कई मान्यताएँ हैं जो हमें सामाजिक परंपरा से मिली हैं, मिलकर हमसे ऐसी एक-मेक हो गयी हैं कि हमारे लिये ऐसी सहज हैं कि हम उन्हें मिटा नहीं सकते। इसका मतलब यह नहीं कि पुराने ने हमें शिकंजे में कस रखा हो ! हम प्राचीनता के बंधन में भी नहीं हैं। हमारे वर्तमान का एक घटक प्राचीन है जिसके विनियोग से हमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अगले क्षण में प्रवेश करना है। यहीं जीव की स्वतंत्रता है। स्मृति के विश्लेषण से यह स्पष्ट होगा : सारा ज्ञान संस्कार रूप से चित्त में रहता है। कौन संस्कार कब उद्‌बुद्ध हो यह परिस्थिति पर भी निर्भर करता है। सामने से गाड़ी आये तो हम बायीं और हट जाते हैं; यह हमारे चित्त में अंकित निर्देश है। अमरीका में दायीं ओर चलने का नियम है। वहाँ भी यदि हम सामने से गाड़ी आती देखकर बायें ही हटेंगे तो दुर्घटना ही होगी ! जैसी परिस्थिति के लिये जैसे संस्कार चित्त में अंकित हैं वैसी परिस्थिति में वैसी स्मृति होना स्वाभाविक है क्योंकि चित्त का धर्म है कि परिस्थिति आदि के अनुसार स्मृति कर देता है, संस्कार जगा देता है। किन्तु क्योंकि हम स्वतंत्र हैं इसलिये प्रयासपूर्वक सीख लेते हैं कि अमरीका में बायें नहीं वरन् दायें हटना चाहिये। अतः स्मृति के बंधन से घबराना नहीं है। प्राचीन की उपलब्धि का विनियोग करके आगे के कदम सोच-समझकर उठाने हैं। ''गाड़ी देखकर हटना चाहिये''—यह स्मृति सहेजे रखते हुए 'बायें' की जगह 'दायें'—यह परिवर्तन किया। इसी तरह अपनी परम्पराओं के अनुरूप, अपनी थाती को सुरक्षित रखते हुए समाज के चित्त को निश्चय करना पड़ेगा कि औद्योगिक क्रान्ति का सामना कैसे करना है। व्यक्तिगत चित्त सामाजिक चित्त में अन्तर्ग्रथित है।

स्मृति को ज़बर्दस्ती दबाना विपरीतफलक होता है, विचारपूर्वक निरोध ही उपयोगी होता है। धार्मिक घरों के बच्चे प्रायः तभी अध ार्मिक हो जाते हैं जब उन पर धर्म बलात् लादा जाता है। धर्म सिखाया जाये, समझाया जाये, क्रिया कराई जाये—यह सब ठीक है पर जिस अवस्था में बच्चे को धर्म की आवश्यकता नहीं है, जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आवश्यकता उसे युवा बनने पर ही महसूस होगी, उस बाल्यकाल में यदि उसके संस्कारों को नकारने लगते हैं तो वह दबाव उसमें धर्म के प्रति विरोधी भावना उपजा देता है। इसी प्रकार जब हम अपनी अधीरता में समाज के चित्त को बदलना चाहते हैं तब उस दबाव से क्रांति आती है जैसे औद्योगिक प्रगति से यूरोपीय देशों में क्रांति आयी थी। ऐसा क्यों होता है ? भौतिक—तात्कालिक, सीमित, अव्यापक—दृष्टि वाले, राष्ट्र की आत्मा को भूल जाते हैं। जब वे आत्मा को दबाते हैं तब फल क्रान्ति होता है। कुछ-एक व्यक्ति या सीमित समुदाय जब समाज की परंपरा- प्राप्त व्यापक भावनाओं का तिरस्कार कर उस प्रवाह से विरुद्ध मूल्य थोपने की कोशिश करते हैं तब समाज की प्रतिक्रिया क्रांति का रूप ले लेती है। समाज के चित्त के साथ व्यक्ति अपना चित्त मिलाये तभी काम बनता है। क्योंकि व्यक्तिचित्त समाजचित्त में ग्रथित है इसलिये उससे तालमेल रखना अनिवार्य है। समष्टि का चित्त क्या चाहता है इसे जानकर ही व्यष्टि चित्त जब कार्य करेगा तब प्रगति होगी। महात्मा गाँधी नेता थे, भारत का जनमानस उनके साथ चलता था। नेता आज भी हैं पर क्योंकि जनमानस से दूर पड़ गये हैं इसलिये देश को कोई दिशा नहीं दे पा रहे, राष्ट्र की प्रगति नहीं कर पा रहे। गाँधी की आवाज़ में ज़ोर था, वैसा ज़ोर हमारी आवाज़ में नहीं है। कारण स्पष्ट है, गाँधी के चित्त का समष्टि चित्त से मिलान (tuning) था, समष्टि के आदर्श, अपेक्षाएँ आत्मसात् करके वे आगे बढ़ाते चलते थे। हम समष्टि से बेखबर रहना चाहते हैं, वैयक्तिक या उधार लिये विचारों को राष्ट्र पर थोपना चाहते हैं अतः हमारा प्रतिरोध ही अधिक होता है, हम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समाज के विचारों से जुड़ नहीं पाये तो समाज भी हमारे विचारों से जुड़ता नहीं है।

कोई कवि कभी महान् क्यों बनता है ? अपने काल में वही कवि इज़्ज़त पाता है जो जनमानस का कवि हो। जिस भी समय सामाजिक अनुभूति उसके काव्य में अपनी झंकार सुनेगी तभी उसे महान् समझा जायेगा। नीत्शे (Niezsche) और हैगेल (Hegel) दोनों जर्मन दार्शनिक थे। लोग हैगेल को ही अधिक मानते थे। नीत्शे पागल होकर मरा, अपने दिमाग़ को काँच का बना मानने लगा था ! हैगेल के सवा सौ वर्षों बाद नाज़ी आये तब नीत्शे का 'राष्ट्रीय समाजवाद' (National socialism) जन मानस में आया। हिटलर के युग में अतिमानव (superman) के सिद्धांत को आगे बढ़ाया गया। नीत्शे ने तो मानव-अतिमानव (man, superman) दो माने थे, हिटलर ने चार माने—पशु (हबशी), अपूर्ण मनुष्य (हिन्दुस्तानी, चीनी), मनुष्य (यूरोप वाले) और अतिमनुष्य (जर्मनी वाले)। हिटलर-युग में नीत्शे का ग्रन्थ अवश्य वाचनीय हो गया जबकि हैगेल के काल में नीत्शे के सिद्धांत की कल्पना ही नहीं थी। इस इतिहास से यही समझ आता है कि हैगेल के समय जनमानस ने उसे माना जबकि नीत्शे को उससे परवर्ती जनमानस ने ही मान्यता दी। ऐसे ही समाजचित्त को दबाने से नहीं वरन् उससे सामंजस्य स्थापित कर उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप 'विज्ञान' के अनुसार परम्परा के योग्य नवीन स्थापनायें सामने रखने से सामयिक नैतिकता विकसित होगी।

इतिहास के किसी क्षण की पुनरावृत्ति नहीं होती। किसी भी समय की महत्ता याद कर यदि उसकी ओर पीछे जाना चाहे तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यह समाज की गलती है क्योंकि यों कभी पिछड़ा नहीं जाता। यदि कोई स्वर्ण युग था तो उसकी स्वर्णिमता को आज के संदर्भ में ढालने का प्रयास संभव है पर परवर्ती युग को पूर्ववर्ती युग नहीं बनाया जा सकता। भूतोन्मुख (भूतकालिक स्थिति की ओर) गति से समाज या राष्ट्र का विकास नहीं किया जा सकता। आज कौन-सी स्मृतियाँ उभर रही हैं, कौन-सी दब रही हैं, दब रही हैं तो ठीक दब रही हैं या नहीं—यह विचार कर जब उदात्त आदर्श की ओर प्रेरित करने वाला परिवर्तन संमुख रखा जायेगा तभी मानव अपने समाज का—और तदंगतया स्वयम् अपना—विकास कर सकता है। हमारे जनजीवन का संस्पर्श करने वाली 'भारत भारती' ने हमें तब प्रभावित किया था पर आज मैथिलीशरण को पढ़ने वाले दुर्लभ हैं! आज भारत भारती का अध्ययन अनिवार्य कर देने से कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि बदले संदर्भों के अनुरूप दिशानिर्देश अपेक्षित होता है। भारतीय सामाजिक विचारों पर पाश्चात्यों ने भी विचार किया, पर साक्षी रूप से, तटस्थ रूप से; ये विचार उनके प्रवाह के अनुरूप नहीं, उन्हें प्रेरित नहीं कर सकते। हमें अपने प्राचीन विचार प्रेरणा दे सकते हैं, हमारे लिये उनके अनुरूप आगे बढ़ना स्वाभाविक है। हमें इन पर गंभीर चिंतन करना होगा। ये विचार सारे समाज में बिखरे पड़े हैं। इन विचारों को आत्मसात् किये बिना सह-अनुभूतिपूर्वक मानव समाज का घटक नहीं बन पायेगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तीसरा प्रवचन

उद्देश्य की समानता

मानव समाज को विकसित कर सके इसके लिये सामाजिक दृष्टिकोण को समझना ज़रूरी है। समाज का स्वरूप जाने बिना समाज के लिये कोई सकारात्मक कार्य नहीं कर सकते। समाज में कभी धर्म प्रधान रहता है, कभी दर्शन प्रधान रहता है तो कभी विज्ञान प्रधान होता है। आज प्रचलित समाजशास्त्र अभी तक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परिपूर्ण नहीं हुआ है। तीन सौ वर्ष पूर्व के विचार आज के समाजशास्त्र पर हावी हैं, उस पर अभी तक दार्शनिक प्रभाव है, वैज्ञानिक प्रभाव नहीं आया है। कार्य-कारण परीक्षा में अनुभवानुसार परिष्कार वैज्ञानिक दृष्टि है। इस परिष्कार से अनके सन्तुलन बदलते हैं। न्यूटन के भौतिकशास्त्र के साथ जितना सहयोग वैदिक का नहीं था उतना आइन्स्टाइन के सिद्धांतों से हो जाता है। अपरिष्कृत रूप बनाये रखने से कोई भी शास्त्र अनेक लाभों से वंचित ही रहता है।

समाजविज्ञान के नाम पर आज जितने वाद प्रचलित हैं उनमें ऐसी अनेक मान्यताएँ मिलती हैं जो अनुभव से मेल नहीं खातीं। आज समानता का दृष्टिकोण है कि पंडित नेहरू और ग्रामीण किसान को बराबर मानना, दोनों का एक-एक मत (vote) होना। यह आधारभूत मान्यता ही अनुभव के विरुद्ध है कि सबका एक सिर है तो सबको एक जैसा मान लो; हो सकता है दो हाथों पर दृष्टि पड़ती तो सबको दो मतों (votes) का अधिकार मिल जाता ! समानता की यह एक दार्शनिक दृष्टि है, अनुभव पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आधारित नहीं है। साम्यवाद में खण्डनप्रक्रिया (polemics) चल रही है। ईसाई जैसे बाइबल को उद्धृत करता है वैसे साम्यवादी मार्क्स के ग्रंथों से उद्धरण देता है। इसे भी धार्मिक (theological) या दार्शनिक (metaphysical) प्रभाव ही मान सकते हैं, वैज्ञानिक नहीं। जीवन से संग्रथित होने पर ही विज्ञान प्रतिष्ठित होता है। गेलेलियो (Galileo) ने जो प्रयोगात्मकता पर बल दिया वह एक न बदलने वाला ऐसा सिद्धांत है जिससे पश्चिम का भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र और बाद में जीवविज्ञान तथा अब मनोविज्ञान नये सिरे से विकसित होते चले गये। किन्तु अभी तक समाजशास्त्र में वह दृष्टि पनपी नहीं है। समाज से हटकर, बाहर से, समाज के बारे में सम्यक् ज्ञान हो सके यह संभव नहीं है। समाज में रहकर ही उसका अध्ययन करना पड़ता है। जैसे अपना मन स्वयं ही अपने अनुभवों का विश्लेषण कर पाता है, मन की अन्तःस्थिति सर्वांश में किसी अन्य के सामने प्रकट नहीं हो सकती, ऐसे ही सामाजिक अनुसंधान समाज के अन्तर्गत ही हो सकता है, समाज से बहिर्भूत होने पर समाज की वास्तविकता समझी नहीं जा सकती। सामाजिक विकास में परिवर्तन लाने को प्रयत्नशील होकर ही समाज की प्रगति का अध्ययन किया जा सकता है।

चित्र में सारा प्रभाव रंगों का है पर चित्रकार की दक्षता पर ही वह प्रभाव निर्भर है किन्तु चित्र तैयार होने से पूर्व चित्रकार भी नहीं कह सकता कि वह ठीक-ठीक कैसा चित्र बनायेगा ! जैसा उसने देखा या कल्पित किया, सर्वथा, सर्वांश में वैसा ही बना सके यह लगभग असंभव है। सामान्य छोटी से छोटी घटना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी पूर्णतः कैसी होगी यह पहले से बताया (forecast) नहीं जा सकता। ऐसे ही सामाजिक विकास के लिये यत्नशील कोई भी व्यक्ति यह नहीं बता सकता कि समाज का रूप ठीक-ठीक कैसा बनेगा। सुंदर चित्र बनाने की कोशिश की तरह अपनी समझ से जो आदर्श हो तदनुसार समाज बनाने का प्रयास होगा, पर तैयार समाज कैसा होगा इसे पहले से निर्णीत नहीं कर सकते। जैसे शब्दों से कविता का निर्माण होता है, ऐसे ही जीवनों के द्वारा समाज का निर्माण होता है। इसीलिये सामाजिक कार्य में एक प्रकार के साहस की आवश्यकता रहती है। यदि समाज में वैज्ञानिक दृष्टि लानी है तो पुरानी मान्यताओं को भी अविचारणीय, अपरीक्षणीय मानना छोड़कर चलना पड़ेगा। बिना परीक्षा के नये या पुराने किसी को भी स्वीकार लेना, उसे उपयोगी ही या अनुपयोगी ही मान लेना, वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं है। जिसमें यह साहस नहीं, वह ठोस कदम नहीं उठा सकता। "मेरी कविता कैसी होगी, क्या अच्छी होगी या नहीं"—इसी सोच में रहने वाला कभी कविकर्म में उन्नत नहीं हो सकता। साहित्य का निर्माण करते-करते ही उसमें सुधार आता है, इसी तरह समाज का परिष्कार करते चलें तो उसमें समुचित शोधन हो जाता है, आदर्श की प्रतिरूपता प्रस्फुटित हो जाती है।

व्यक्ति और समाज में गुण-प्रधान भाव के बारे में मतभेद रहता है। समाज और व्यक्तियों का घनिष्ठ संबंध है यह सुस्पष्ट है। आज का पूंजीवाद समाज से व्यक्ति को प्रधान समझता है जबकि समाजवादी मानता है कि समाज ही व्यक्ति का निर्माण करता है। व्यक्ति-समाज के सम्बन्ध को सही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तरह न पहचानने से आज सामाजिक असमन्वय (social maladjustment) है। परिप्रेक्ष्य सीमित रखने पर ही संघर्ष होते हैं। जब तक वैज्ञानिक भी विज्ञान की सीमा मानते रहे, उनमें भी आपसी संघर्ष रहा; जब उन्हें समझ आया कि विज्ञान असीम है तभी सब वैज्ञानिक आपसी समन्वय से, सहयोग से विकास कर पाये। "दूसरे को मिल गया तो मुझे मिलने लायक नहीं रहेगा"—यह संघर्ष का आधार होता है। जब पता है कि प्राप्ति होती रहने पर भी समाप्ति नहीं होगी तब संघर्ष को स्थान कहाँ रहेगा ! प्राचीन काल के सामाजिक संघर्ष व्यक्तिनिष्ठ थे क्योंकि व्यक्तियों का संघर्ष होता था, आदर्शों का नहीं। समान आदर्श से उत्प्रेरित होने के कारण जो सामाजिक एकता पहले थी, आज आदर्शों के बिखर जाने से वह नहीं रह गयी है। समाज के नाम पर हम साथ-साथ तो हैं पर हम साथ बने रहते हुए आगे बढ़ते रहें—ऐसा कोई आपसी सम्बंध नहीं है। जब तक ऐसा शक्तिशाली परस्पर बंधन न हो कि सब इस विषय में निश्चित हों कि हम विशृंखलित नहीं हो सकते, तब तक सामाजिक स्तर पर हम आगे नहीं बढ़ पायेंगे। ऐसा बंधन धर्म था पर आज उसका प्रभाव नष्ट हो रहा है, कोई वैसा स्थायी सर्वसंग्राहक सर्वसंमत बंधन रह नहीं पा रहा है। सर्वथा पुरानी तरह का समाज पुनः हो यह संभव नहीं पर प्राचीन रीति के उन नियमों का अन्वेषण करना ज़रूरी है जिनके अनुसार वह व्यवस्था सफलतापूर्वक चली और उन नियमों से आज के अनुरूप व्यवस्था के निर्माण का प्रयास करना है जिसके अंतर्गत समाज में केवल दैहिक ही नहीं मानसिक व बौद्धिक निकटता तथा एकजुटता रह सके।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वेद की दृष्टि केवल तत्तत् क्रियाकलाप की आवृत्ति की नहीं वरन् उन स्थायी सिद्धांतों को अपनाने की है जिनके अनुसार वे क्रियाकलाप भी कर्तव्य बने। वैदिक समाज में सहवेदना की दृष्टि रही, सब आपसी सुख-दुःख में मिलकर अपनत्व रखते हुए बोझा हल्का कर लेते थे। इसमें एक बड़ी सहायता इस व्यवस्था से थी कि सब एक-दूसरे पर निर्भर थे। वर्णानुसारी व्यवसाय की पद्धति समाज को ग्रथित रखने में सक्षम थी क्योंकि दूसरे घटकों का तिरस्कार कर कोई घटक आगे नहीं बढ़ सकता था। किसान को हल के लिये बढ़ई पर निर्भर रहना ही पड़ता था, लोहार के बिना उसका कार्य नहीं चल सकता था क्योंकि खुद वह उन कार्यों में हाथ नहीं दे सकता था। इसलिये वह भी बढ़ई, लोहार आदि सभी को अनाज देता था। इस आपसी निर्भरता से बलात् वह सहयोग, सहवेदना, समन्वय उपजता था जो समाज को प्रेमपूर्वक एकजुट रखते हुए सामाजिक विकास में उपयोगी हो। औद्योगिकता के चलते आस-पास वालों पर निर्भरता समाप्त होने से और तत्तत् कार्य के लिये तत्तत् समुदाय पर ही निर्भरता समाप्त हो जाने से सामाजिक समन्वय की अनिवार्यता घट गयी जिससे वह सहानुभूति और सहयोग आज नहीं रह गये हैं। व्यवहार में इन उच्च भावनाओं को बनाये रखने के लिये केवल बौद्धिक-मानसिक संस्कार पर्याप्त नहीं होते, स्थूल बंधनों से भी इनकी आवश्यकता प्रकट रखनी पड़ती है। जिसे पता है कि हर हालत में उसे दूसरे समुदाय का सहयोग लेना ही पड़ेगा वह यदि कभी चाहे तो भी दूसरे के प्रति द्रोह नहीं कर सकेगा फलतः कुछ-न-कुछ आपसी प्रेम बना ही रहेगा। वेदों की दृष्टि महान् है। वैदिक तत्त्वों को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जनजीवन में लाने से हर काल में समाज उन्नत होगा। सैद्धान्तिक आधार प्रयोग से सत्यापित होने पर स्वीकार्य होने चाहिये, वैयक्तिक दृष्टि उन पर हावी नहीं होनी चाहिये क्योंकि अपने सीमित अनुभव पर निर्भर व्यक्ति अनेक ग्रंथियों से बंधा होने के कारण समग्र सत्य को पहचान ही पाये यह ज़रूरी नहीं। एक व्यापारी को अपने भाई के झगड़े का ऐसा अनुभव हुआ कि वह कोई साझीदार नहीं रख पाया इतना ही नहीं, वह पुत्र भी नहीं चाहता कि कहीं वह भी भाई की तरह का निकला तो क्या होगा ! ऐसे ही सामाजिक ग्रंथियाँ भी पड़ जाया करती हैं। यदि कोई तटस्थ प्रेरक न हो तो उन ग्रंथियों के प्रभाव से आयी विकृति बढ़ भी जाती है। अतएव सिद्धांत-निर्धारण और प्रयोगात्मकता का अत्यधिक महत्त्व है। जैसे स्वर्ण के एक कण को समझकर सारे स्वर्ण के बारे में निःशंक निर्णय होता है ऐसे समष्टि चेतन को समझने के लिये व्यष्टि चेतन को समझना पड़ता है। समाज के घटकों का विश्लेषण करने पर ही समाजशास्त्र वह वैज्ञानिक आध ार पा सकता है जो उसे दार्शनिक प्रभाव से निकाल कर एक विज्ञान बनाये।

आज समाज में अनेक भ्रांत धारणाएँ घर किये हैं। किसी भी व्यवस्था का कभी किसी के द्वारा दुरुपयोग भी हो जाता है। प्राचीन काल में भी ऐसे दुरुपयोग हुए। उनका विवेकपूर्ण परीक्षण बिना किये केवल उन अनुभवों में सीमित रहने से मानसिक ग्रंथियाँ बन गयीं जिससे सभी प्राचीन मर्यादाओं को हम बुरा मानने लग गये। यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं है। सभी बिन्दुओं से अच्छाई-बुराई निर्धारित कर प्राचीन व्यवस्थाओं में से जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपयोगी हैं उनका चयन करना पड़ेगा और अनुपयोगी को भी उपयोगी बनाने के लिये परिष्कार सोचना पड़ेगा। पिछले को सर्वथा त्यागकर आगे नहीं बढ़ा जा सकता, वह जैसा हमें उपलब्ध है उसका विनियोग करके ही आगे बढ़ा जा सकता है। विनियोजन में ही सिद्धांत और विज्ञान का समन्वय है।

मानव और समाज के आपसी संबंध की तरह ही समाज का आधार मानवों का आपसी सम्बंध भी है। बाज देखकर सब चिड़ियाँ दूसरी चिड़ियों को सावधान कर देती हैं जब कि हमारी प्रवृत्ति स्वयं पहले लाभ उठाने की रहती है ! बजट समय से पूर्व कुछ लोगों को क्यों पता चल जाता है ? प्रश्न-पत्र परीक्षा से पूर्व कुछ छात्रों को क्यों मालूम पड़ जाते हैं ? कारण हमारी यह लाभ उठाने की दृष्टि ही है कि "सबको नहीं, मुझे लाभ हो जाये।" इस प्रकार फायदा उठाना अन्यों के प्रति अन्याय है–यह हमारी समझ में नहीं आता तभी ऐसी प्रवृत्ति करते हैं। इस व्यक्तिगत दूरी बढ़ते जाने से, वैयक्तिक सम्बंध शिथिल होते जाने से सामाजिक सम्बंध भी टूटता है। शहर की गंदगी से बचने के लिये लोग शहर के बाहरी तरफ मकान बनाने में प्रवृत्त हो रहे हैं, गंदगी साफ़ हो, गंदगी बढ़ाने वाली प्रक्रियाएँ रुकें ताकि शहर साफ़ रहे–इसके लिये प्रयास नहीं कर रहे। अन्य सबकी उन्नति से मुँह चुराकर केवल अपनी उन्नति की कोशिश स्थायी फल नहीं दे पाती। शहर की सफ़ाई नहीं कर पाये तो बाहर बसने पर वहाँ भी गंदगी ही हो जायेगी। वर्तमान समाज को नकार कर काल्पनिक समाज में जीवन नहीं चल सकता। यही समाजवादी की भूल है। वह अपने काल्पनिक समाज में इतना खो गया है कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वर्तमान में उपलब्ध को वह समाज ही नहीं मानता। व्यक्तियों के विघटन से समाज विघटित होगा ही। सत्य समाज को संश्लिष्ट रखता है, झूठ विघटन करता है। व्यक्ति अपने लाभ के लिये झूठ की ओर आकृष्ट होता है। पर झूठ व्यक्ति को भी तभी तक लाभ देता है जब तक अधिकतर व्यक्ति सच बोलते हैं ! जब अधिकतर झूठे ही हो जाते हैं तब व्यक्तियों को भी लाभ नहीं रह जाता और सत्य का सामाजिक बंधन टूट जाने से सारा ही समाज बिखर जाता है। चोर-बाजारी जब साहूकारी हो जाये, घूसखोरी सर्वत्र फैल जाये, तब वे भ्रष्टतायें किसी को लाभ न देकर भी दृढतापूर्वक स्थिर होकर हर प्रकार के विकास को अवरुद्ध कर देती हैं। हर व्यक्ति उन्नति करे और दूसरे व्यक्तियों की उन्नति कराये तभी समाज भी उन्नत होगा। चिड़ियों को खतरा देखकर चिड़िया भी खुद ही फ़ायदा नहीं उठाना चाहती बल्कि सभी चिड़ियों को बचने के लिये सूचित करती है; मानव क्या चिड़िया की स्थिति से भी गयी-बीती हालत में है कि दूसरा खतरे में है इसका खुद फ़ायदा उठाना चाहता है ! इन सारी दृष्टियों से विश्लेषण करने पर ही समाजशास्त्र को वैज्ञानिक रूप मिलेगा।

समाज के अध्ययन के लिये व्यक्ति का चुनाव ज़रूरी है पर इससे व्यक्ति का महत्त्व समाज से बढ़ नहीं जाता जैसे स्वर्ण का स्वरूप समझने के लिये कोई एक स्वर्णकण चुनना ज़रूरी है, पर इससे वह समग्र स्वर्ण से अधिक महत्त्व का नहीं हो जाता। व्यक्तिवाद समाजवाद का विरोधी नहीं—जैसा आज माना जा रहा है—वरन् उसका पूरक है और इसी तरह समाजवाद भी व्यक्ति के पूर्ण विकास का उपाय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं में समाज को समझकर जब समाज में स्वयं को देखता है तब व्यक्ति-समाज का सामंजस्य सर्वथा विकासशील हो जाता है। मानव सत्ता को पाँच अधिकरणों में मानने की वैदिक संश्लेषणात्मक दृष्टि का यही उद्देश्य था। किसी एक अधिकरण में ही सीमित रहने वाला चिंतन सर्वांगीण परिपाक के लिये निरुपयोगी ही नहीं उसका विरोधी भी हो जाता है। व्यक्तिवाद को समाजवाद से पृथक् कर महत्त्व देने का नतीजा व्यक्तियों में आपसी दूरी बढ़ना है। वर्तमान काल में अतिशय घबराहट (nervous break-down) की घटनाएँ बढ़ रही हैं। संयुक्त परिवार में प्रेम का आदान-प्रदान करने की शिक्षा मिलती थी, निकटता के वातावरण में प्रेम होना भी स्वाभाविक था और आपसी प्रेम को महत्त्व भी दिया जाता था। आज वह सार्वकालिक सहज सुलभ विद्यालय उठ गया है ! अब पारिवारिक सदस्यों को परस्पर प्रेम की न शिक्षा मिलती है न उसके लायक वातावरण। जब परिवार में प्रेम नहीं रहा तब सामाजिक सहानुभूति कहाँ से होगी ? इसका स्रोत संयुक्त परिवार ही था। फलतः हम प्रेम लेना और देना दोनों भूल गये हैं। पहले हम अपना अधिकार मानते थे कि चाचा हमसे प्रेम करे; आज वह प्रेम करे तो हम सोचते हैं कि कोई स्वार्थ होगा ! परिवार हो या समाज, संश्लेषण की सामर्थ्य (cohesive force) प्रेम में है, संग्रथितता प्रेम से ही आती है।

प्रेम की कमी का असर है कि भोग-सामग्री बाँट कर काम में लेने की दृष्टि हट रही है, सारा ही भोग अपने ही लिये चाहते हैं। भोजन बच गया तो कम-से-कम भिखारियों को बाँट देते थे,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शीतक (refrigerator) ने हमारी वह दानशक्ति भी घटा दी, हम बचा भोजन भी किसी को देने के बजाये अपने ही लिये बचाकर रख लेते हैं, ठंडा कर देने से कई दिनों तक वे चीज़ें बची रहती हैं। यह ठीक है कि बचे भोजन को बाँटना मज़बूरी थी क्योंकि रखने का उपाय नहीं था लेकिन उस आदान-प्रदान से आपसी व्यवहार बना रहने के कारण प्रेम पनपता था। जब वह व्यवहार बंद हो गया तब प्रेम के लिये स्थान नहीं रहा। वैयक्तिक संबंध रखते हुए प्रेम के आदान-प्रदान में स्वयं सुख होता है। दूर-दराज़ के बाढ़-पीडित, सूखा-पीडितों के प्रति संवेदनापूर्वक देने से और उन्हें मिलने से भी सुख होता है किन्तु उसमें वह तीव्रता नहीं होती जो वैयक्तिक सम्बंध में प्रेम देने-लेने में होती है। द्रव्यों के आदान-प्रदान से कहीं अधिक संतोष प्रेम के आदान-प्रदान में है। बड़े परिवारों वाले समाज में हमें यह शिक्षा सहज में मिलती रहती थी।

आज व्यक्ति सदा जवान बना रहना चाहता है जबकि प्राचीन मर्यादाओं में सम्मान बड़ों को, बुजुर्गों को मिलता था। विदेश में तो हाल यह है कि माँ चाहती है उसे उसकी बेटी की छोटी बहन समझा जाये ! भारत में माँ कहकर पुकारते थे तो स्त्री प्रसन्न होती थी जबकि आज लड़की अपने नाम से पुकरवाना चाहती है। विचारधारा में अंतर आया है। तीस वर्ष पूर्व तक लोग कार्य से निवृत्त होकर आनंद से जीना (leading a retired life) चाहते थे, आज सेवा-निवृत्ति की उम्र बढ़वाना चाहते हैं और निवृत्त होकर भी व्यक्तिगत संस्थाओं में नौकरी करना चाहते हैं। इस सबका मूल यही भाव है कि सारा भोग्य हमें मिलता रहे, इसी के लिये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सदा काम करते रहना चाहते हैं। न स्वयं बूढ़े होकर रहना चाहते हैं और न बुड्ढों को रखना ही जानते हैं। जवानी तो खत्म हो ही जाती है पर हम उसे न स्वीकार कर स्वयं जवान दीखने की कोशिश से विभिन्न रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं। आज तो लोग बच्चों से भी स्पर्धा करना (compete) चाहते हैं कि "हम भी लड़कों के बराबर काम कर सकते हैं" ! दूसरों को मौका देकर खुद किनारे होना वृद्धता स्वीकारना है। वृद्धों को आदर मिलने से यह भी शिक्षा परिवार में सुलभ थी जिसका आज अभाव है। जब देखते थे कि वृद्धों ने हमें मौका दिया तो प्रेरणा मिलती थी कि हम भी बच्चों को मौका दें और वृद्ध मिलने वाले सम्मान से प्रसन्न रहते थे। यह भी प्रेम का आदान-प्रदान था। अब संयुक्त परिवार नहीं है तो किसी इकाई (unit) का तो निर्माण करना पड़ेगा जहाँ सामाजिकता की ये आधारभूत शिक्षाएँ मिलें, प्रेम का आदान-प्रदान सीखा जा सके। परिवार एक स्वाभाविक इकाई (natural unit) है पर यदि उसे नहीं चाहते तो वैकल्पिक व्यवस्था तो करनी होगी।

हमने समानता का रूप ऐसा समझ लिया है कि हर-एक दूसरे के जैसा बनना चाहता है ! लड़के-लड़कियाँ भी एक-दूसरे जैसा बनना चाहते हैं, कपड़े-लत्ते उसी ढंग के पहनते हैं। वस्तुतः समाज में समानता उद्देश्यों की होती है, रूप-रंग की नहीं। शरीर के सब अवयव रूप की दृष्टि से समान बिल्कुल नहीं हैं जबकि हैं सब समान महत्त्व वाले क्योंकि सबका समान उद्देश्य है—शरीर व्यवस्थित रखना। आँख हाथ से लड़े और उसकी तरह हो जाये तो देखेंगे कैसे और हाथ आँख की तरह हो जाये तो सारे काम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कैसे करेंगे? ये सारी विभिन्नताएँ आवश्यक हैं, समानता उद्देश्य के संदर्भ में है। समाज में भी अनेक प्रकार की भिन्नताएँ ज़रूरी हैं, उन भेदों को मिटा सकते नहीं और कथंचित् मिटा दिया तो समाज रह नहीं सकता। समाज के घटकों की समानता इसी से होगी कि उनका समान उद्देश्य है समाज की व्यवस्थित उन्नति का। हर युवा महाविद्यालयीय शिक्षा ले—यह समानता अनपेक्षित है। सारे अंगों को पूर्णता की ओर ले जाना पड़ेगा, यह नहीं कि सबको कोई एक अंग बना कर रख दें।

सामाजिक क्षेत्र में विकास के लिये सब लोगों को अर्थात् सामाजिक चेतना को, समष्टि मन को परमेश्वर की ओर उन्मुख करना आवश्यक है क्योंकि विकास की संपूर्णता परमेश्वर ही है। उन्नति के लिये संग्रथन चाहिये और सबसे व्यापक एवं मज़बूत संश्लेषण परमेश्वर से ही मिल सकता है। जितने अधिक परिवर्तनीय तत्त्व (variables) होते हैं, उनके अध्ययन को विज्ञान बनने में उतना ही अधिक समय लगता है। अतः समाज का अध्ययन वैज्ञानिक बने इसमें समय लगना स्वाभाविक है क्योंकि इसमें परिस्थितियाँ नित्य नवीन बनती हैं और उनमें व्यवहार करने वाले हैं चेतन जिनकी प्रतिक्रियाओं का अनूठापन हमेशा ही बना रहता है। समाज में घुसकर ही इसके रहस्यों का अध्ययन संभव है। हम सब समाज में प्रविष्ट हैं, हम सभी के लिये यह अध्ययन का क्षेत्र है। समाज-विज्ञान का पता लगाना केवल किन्हीं मानवशास्त्रियों (anthropologists) का ठेका नहीं है। सामाजिक शिक्षा के केन्द्रों का उद्धार आवश्यक है जहाँ हमें वे मूल्य सिखाये जायें जिनके आधार पर समाज की प्रगति होती है। समाजविज्ञान को प्राध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यापकों की विद्या माने रहने से इसमें कभी पूर्णता नहीं आ सकती, प्रत्येक मानव को समाज के विज्ञान में योगदान देना होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चौथा प्रवचन

परस्पर-निर्भरता

वेद ने हर स्तर पर समष्टि-व्यष्टि के अभिन्न सम्बन्ध को प्रकट किया। चाहे जीव-ईश्वर का पारमार्थिक स्तर हो, विश्व-वैश्वानर का व्यावहारिक स्तर हो या तैजस-हिरण्यगर्भ का प्रातिभासिक स्तर हो, सर्वत्र समष्टि-व्यष्टि के अभेद की दृष्टि वेद ने रखी। मानव-समाज की भी इसीलिये वेद ने पुरुषरूप से उपस्थापना की 'पुरुषसूक्त' नाम से प्रसिद्ध संदर्भ में। व्यष्टि का विशाल रूप समष्टि है। समाज में इसीलिये पुरुष से समानता है। इस समानता को ही अवयवशः वहाँ प्रकट किया 'ब्राह्मण इसका मुँह है' आदि के द्वारा। सारे समाज की एक पुरुषरूप से कल्पना वेद ने हमारे सामने रखी। इससे स्पष्ट हुआ कि शरीर और अंगों की तरह ही समाज और मानव है। जैसे शरीर में सिर का कार्य चिंतन करना है ऐसे समाज में ब्राह्मण को चिन्तनशील होना है। भेदों के दीखते हुए ही एकत्व को खोज निकालने का यह वैदिक ढंग है, अंगों का भेद रहते ही वे शरीररूप में अभिन्न हैं, ब्राह्मणादि भी विभिन्न उपलब्ध होकर समाज के रूप में अभेद को नहीं छोड़ते। व्यष्टि शरीर में पाँच कोष हैं तो समष्टि शरीर—समाज में भी 'पंच जन' रहते हैं, वे ही ऊपर से नीचे तक उसका सारा आकार बनाते हैं।

इस समष्टि-दृष्टि को न अपना सकने वाला समाज नष्ट हो जाता है। वेद ने स्पष्ट ही व्यष्टि-दृष्टि को 'विनाश' नाम से और समाज की दृष्टि को 'सम्भूति' नाम से कहा है। प्रत्येक अलग-अलग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहें तो दो दृष्टियाँ हैं। सामाजिक दृष्टि ऐश्वर्य के लिये है। इसमें व्यक्ति का दौर्बल्य नहीं है किन्तु समाजदृष्टि के अंतर्गत ही उसे स्थान है। व्यक्ति ही 'जगत्' है क्योंकि इसमें हमेशा हलचल रहती है, यह गतिशील है; पाँच मिनट मौन रखने को कहा जाये तो बड़ा लंबा समय प्रतीत होता है ! निरन्तर क्रियाशील होने से 'जगत्' कहलाने वाला व्यक्ति कहाँ रहता है ? 'जगत्याम्' जगती अर्थात् समाज में। जगती और जगत् से समष्टि-व्यष्टि का विचार द्योतित है। सजीव, सक्रिय शरीर में ही अनंत कोषा (cells) हैं जिनके सामने सारे शरीर का हित है, उनकी सभी क्रियाओं में अभिलषित फल शरीर का हित है। इस नमूने (microcosm) में ही शिक्षा मिल जाती है कि समष्टि के फल के लिये व्यष्टि चेष्टारत होता है तब समष्टि-व्यष्टि दोनों का सप्रयोजन जीवन चलता है। इसी तरह जब अनेक मिलकर एक के लिये, समष्टि के लिये, कार्य करें तभी समाज है। सम्भूति-विनाश दोनों का सामंजस्य करना श्रौत दृष्टि है। समाज को मृत्यु से बचाने वाला व्यक्ति को ही बनना पड़ेगा, व्यक्ति यदि उसके लिये सचेष्ट न हुआ तो समाज स्वयमेव कुछ करके अपनी रक्षा नहीं कर सकता। और ऐश्वर्य सामाजिक स्तर पर ही संभव है; सब उन्नत हों तभी ऐश्वर्य है, चारों ओर भुखमरी के बीच कोई छप्पन तरह की मिठाइयाँ खाकर शोभित नहीं होगा, ऐश्वर्यवान् नहीं कहलायेगा। अमरता, स्थायिता समाज की ही संभव है, व्यक्ति को तो अवश्य मंच से हटना है।

हर मानव अपनी अपेक्षा महत्तर समुदाय के लिये कार्यरत हो इसके शिक्षण का केन्द्र संयुक्त परिवार था। उपादेय होने पर भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह संस्था क्यों टूट गयी ? जो चीज़ नष्ट होती है उसमें नष्ट होने के कारण मौजूद होते हैं। संयुक्त परिवार के विघटन के प्रधान दो कारण हुए : प्रथम यह था कि उस व्यवस्था में जिस पर दायित्व रहता था वह एक व्यक्ति ही सारा बोझ ढोने लगता था, बाकी सदस्यों में अकर्मण्यता बढ़ जाती थी। एक व्यक्ति अधिक कार्य करता था, अन्य तमोगुणी होते जाते थे। छोटा हो या बड़ा, समूह के संदर्भ में सामूहिक भावना और चेष्टा ही कारगर होती है, व्यक्ति पर टाल देने से समूह की समस्या का हल कभी नहीं होता। अंग्रेज़ों के विरुद्ध आंदोलन के समय हम कह देते थे कि हैजा, प्लेग, भुखमरी—सबका कारण अंग्रेज़ सरकार है पर उसी नीति से आज यह नहीं स्वीकारते कि अब होने वाली ऐसी समस्याओं का कारण हमारी सरकार है ! हिन्दू-मुस्लिम एकता का विरोधी हम अंग्रेज़ों को कह देते थे पर अब वे यहाँ न होने पर भी जब एकता नहीं है तब स्वयं उसका दायित्व नहीं लेते। मूल दृष्टि में दोष यह है कि समूह-सम्बन्धित समस्याओं का कारण सारे समूह में नहीं ढूँढ़ते और उनके समाधान के लिये सारा समूह कोशिश नहीं करता। समूह की जिम्मेदारी किसी-न-किसी पर टाल देते हैं, पहले वाइसराय (Viceroy) को उत्तरदायी कहते थे तो आज नेहरू को कह देते हैं। समग्र समाज अपनी समस्या का दायित्व ही जब खुद नहीं महसूस करता तब उसका समाधान भी स्वयं करेगा नहीं और बिना सामाजिक स्तर पर उपचार किये कठिनाई को दूर नहीं कर सकता। यही भ्रांत धारणा संयुक्त परिवार के लिये घातक बनी, उसमें भी सारी जिम्मेवारी एक पर छोड़कर बाकी सदस्य प्रमादी, आलसी बन जाते थे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी का नतीजा संयुक्त-परिवार-प्रथा की समाप्ति के दूसरे कारण के रूप में हुआ : जो व्यक्ति सारा बोझ लेता था वह स्वार्थ-प्रधान होता जाता था। अपनी प्रशंसा सुनना चाहता था, उचित राय भी उसकी समझ से विरुद्ध हो तो सुनने को तैयार नहीं होता था। लड़कों को कठपुतली बनाये रखना चाहने वाले पिता ही शिकायत करते हैं कि लड़के हाथ से निकल गये। जैसे छोटे पौधों को बढ़ने दोगे तभी वनस्पति-संपदा बनी रहेगी, बढ़ेगी, अगर बड़े पेड़ की छाया में ही रखा तो पौधे विकसित ही नहीं होंगे, ऐसे ही बच्चों को केवल सिखाते ही रहने से लाभ नहीं, उन्हें उस सीख को व्यवहार में लाने का मौका देना पड़ेगा, स्वयं प्रयोगों से सीखने का अवसर देना पड़ेगा। संयुक्त परिवार में व्यवहार की शिक्षा तो मिली, पर जब उसकी चिकीर्षा, रचनात्मकता को प्रकट होने का मार्ग नहीं मिला तब बच्चा संयुक्त परिवार तोड़कर नवीन क्षेत्रों में अपनी योग्यता दिखाने लगा। इस प्रकार तामसता को प्रश्रय और आगे बढ़ने की कोशिश पर अंकुश—इन दो कारणों से संयुक्त परिवारों का प्रचलन मिटता गया।

समाज को अपने हाथों की कठपुतली समझने वाले नेता भी उन्हीं ग़लतियों को दुहराते हैं जो संयुक्त परिवार के कर्ता-धर्ता करते रहे। ऐसे नेता किसी को अपने से आगे बढ़ने ही नहीं देना चाहते, बढ़ावा दें इसकी तो संभावना ही नहीं। राष्ट्रीय की तरह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी यही स्थिति है। दलबन्दी की भावना समाजों में बढ़ रही है, सारे समाज के बजाये अपने-अपने दलों के हितों को सर्वोपरि समझना, अपनी दलीय मान्यताओं को ही सर्वोत्तम स्वीकारना, उसके प्रतिपक्षी विचारों को महत्त्व न देना,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपनी दलीय नीतियों को मूकभाव से मानने पर बाध्य करना, उनसे विरुद्ध कार्य सामाजिक हित में हो तो भी उसे रोकने का प्रयास करना आदि सब वे ही गति-विधियाँ आज दल करते हैं जो प्रभुता रखने वाले व्यक्ति किया करते थे। निःसंकोच कहा जाता है कि विश्व के मजदूर संगठित हों (workers of the world ! unite); क्या ग़ैर मज़दूर समाज के अंग नहीं हैं ? केवल मज़दूर ही क्यों संगठित हों जबकि संगठित सारे समाज को होना चाहिये ? मज़दूर की उन्नति उतनी ही ज़रूरी है जितनी धनिक की। शरीर में पैरों से सिर तक सर्वत्र खून मिलता रहेगा तभी सांगोपांग शरीर विकसित होगा, सारा खून एक अंग में रह जाये तो बाकी शरीर के साथ ही वह अंग भी नष्ट ही होगा। समाज में भी एक घटक का ही विकास करने जाओगे तो उस समेत सारे समाज की हानि होगी, लाभ किसी को नहीं होगा। संगठन बनाने में खराबी नहीं पर भिन्नता की दृष्टि ग़लत है, सारे समाज को संगठित करो, संगठन को बिखराव का कारण मत बनाओ। संगठन एक अर्हा है, उसकी कीमत समझकर उसका उपयोग अभेदस्थापन के लिये होना चाहिये, विघटन के लिये नहीं। लोग सभा, संघ (clubs, societies) बनाते हैं। उन संस्थाओं के उद्देश्य एक जैसे होते हैं। फिर सभाओं का भेद क्यों ? एक छोटे नगर में भी अनेक ऐसी संस्थाएँ खड़ी हो जाती हैं जिनका प्रयोजन एक ही बताया जाता है। वे सब यदि एक ही आदर्श मानते हैं तो एक संस्था ही क्यों नहीं हो गयी, भेद क्यों है ? कारण यही है कि अपने-अपने ढंग को ही उचित मानते हैं, उससे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पृथक् तरीके को मौका नहीं दे सकते तो जो कुछ अलग तरीके से काम करना चाहते हैं वे अलग संस्था बना लेते हैं। इस तरह संगठन ही विघटनकारी बन जाते हैं। मज़दूर केवल अपनी मज़दूरी बढ़ाने की सोचता रहेगा तो उत्पादन, व्यापार आदि कमज़ोर ही होता जायेगा जिसका फिर असर मज़दूर पर ही पड़ेगा। एक ही मंडल के मंत्री आपसी मतभेद होने पर दूसरे की बात सुनने-समझने को तैयार नहीं होते और उनमें जो प्रधान है वह अपनी समझ को पुनर्विचारणीय मानने को तैयार नहीं होता, यहाँ तक कि वह ऐसे ही राष्ट्रपति को चाहता है जो राष्ट्र की न सोचे वरन् उसकी हाँ में हाँ मिलाता रहे ! संयुक्त-परिवार वाला दोष ही शासक-समाज में आ गया, अतः वैसे ही यह भी विघटनकारी बनेगा। भारत में भाषाओं का संघर्ष भी यही रूप ले रहा है, तत्तद् भाषा को सर्वोपरि मनवाना चाहते हैं, सब मिलकर किस प्रकार आगे बढ़ें इस तरफ हमारी दृष्टि नहीं जा रही।

संसार के विभिन्न राष्ट्र स्वयं को इकाई मानकर बढोत्तरी चाहते हैं, सब राष्ट्र आगे बढ़ें—इसके बजाय हमारा राष्ट्र आगे बढ़े यह दृष्टि रखते हैं। जैसे किसी भी समुदाय में यह सत्य है कि समुदाय के बजाय उसके घटक की बढोत्तरी अहितकर हो जाती है वैसे ही समस्त राष्ट्रों के समाज का विकास बिना किये जो राष्ट्र केवल अपनी प्रगति चाहता है वह अन्ततः अपनी भी हानि ही करता है। विशिष्ट कार्यों पर एकाग्र होने के लिये संगठनों की आवश्यकता रहती है जैसे शरीर-विज्ञान के विकास के लिये डॉक्टरों को संगठित होना पड़ता है, वे उसी दायरे में ज्ञान बढ़ाते हैं, लेकिन इसे मतभेद का आधार बना लें तो हानि ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होगी क्योंकि सभी विशिष्ट कार्य व्यापक परिप्रेक्ष्य में ही उपयोगी हो सकते हैं, सामान्य का विरोध कर विशेष नहीं पनप सकता। डॉक्टर को रसायनशास्त्री, भौतिकशास्त्री, मानसशास्त्री आदि समाज के सभी अंगों पर पूर्णतः निर्भर रहना ही पड़ेगा, इनका विरोध करना उसके लिये लाभकारी नहीं हो सकता। अपना स्वार्थ साधना जब भी प्रधान होगा वह विनाशकारी हो जायेगा।

संयुक्त परिवार ने जैसे प्रेम की शिक्षा देकर बताया कि सफल समाज का विकास आपसी सौहार्द, सद्भाव से ही हो सकता है वैसे ही अपनी कमियों से भी हमें सावधानी की शिक्षा दी कि सामूहिक दायित्व भूलना अनर्थकारी है। आज हमारे समाज में आलस्य, प्रमाद बढ़ोत्तरी पर है। कम से कम कार्य करके अधिक से अधिक लाभ उठाना—यह आज का दृष्टिकोण है। अपने को पुनर्निर्माण में न लगाने वाली शक्ति खत्म हो जाती है। नाश के कोई परमाणु नहीं जो कहीं बाहर से आ जाते हों! संस्कृति में स्वयं ही नाश के हेतु निहित रहते हैं। ऊष्मा- गतिकी (thermodynamics) के अध्येता एक सिद्धांत ही ऐसा प्रतिपादित करते हैं जिसके अनुसार विशिष्ट प्रकार के तंत्रों के विनाश के लिये किसी बाहरी हेतु की ज़रूरत नहीं पड़ती, उसकी आंतरिक प्रक्रिया ही नाशोन्मुख होती है। समाज के बिखराव के प्रति एक प्रमुख कारण बढ़ता हुआ आलस्य है।

समाज के सुरक्षित विकास के लिये यह न पर्याप्त हो सकता है न सदा संभव है कि विरोधी प्रभाव दूर रखा जाये। बच्चों को बाड़ (fence) के अंदर कब तक रखोगे! विरोधी प्रभाव से बाड़ द्वारा बचाने की कोशिश कामयाब नहीं होगी। बाड़ बनाना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(fencing) न होकर हमारा उद्देश्य स्वयं को प्रबल बनाना होना चाहिये, तभी विरोधी प्रभाव से बचा जा सकता है। परिस्थिति का सामना न करना हार मानना ही है। अर्जुन युद्ध भूमि से भागना चाहता था अतः श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया कि वह कोई उपाय नहीं है, समस्या ज्यों की त्यों रहेगी और बेबस होकर फिर युद्ध ही करना पड़ेगा, इसलिये यही बेहतर है कि सामने आयी परिस्थिति का यथाशक्ति सामना करें। मनुष्य का निर्माण क्योंकि समाज के मध्य ही होता है इसलिये समाज से छिपकर, समाज की समस्याओं की ओर आँख मूँदकर रहना फलतः मनुष्य को ही समाप्त करेगा। जैसे नदी में दूसरे पत्थरों से टकराते रहकर ही पत्थर गोल बनते हैं ऐसे ही बार-बार की चोट मनुष्य में निखार लाती है। एकांत जंगल में चले गये तो किस समस्या पर जीत हासिल करोगे? समाज में रहकर चोट खाओगे तभी गढ़े जा सकोगे, उस रूप में आओगे जिसमें तुम ही नहीं तुमसे समाज भी शोभित होगा। संस्कृति को बाड़े में रक्षित नहीं रखा जा सकता, वह प्रयास ही ग़लत है। सभी तरह की संस्कृतियों का सामना करने का मनोबल (psychological stamina) होना चाहिये, उनसे भय खाना पुरुषोचित नहीं है। काम सामने आने पर घबराहट तभी होती है जब काम सीखा हुआ न हो। संस्कृति, सामाजिक मूल्यों को न सीखने का ही नतीजा होता है कि विलक्षण संस्कृतियों के प्रभाव से बचने के लिये बाड़े में रहने की प्रवृत्ति होती है। संयुक्त परिवार व्यक्ति के मनोबल का संवर्द्धक था क्योंकि कोई-न-कोई रोक-टोक होती रहने से मन एक तरफ तो सीखने में तत्पर होता था और दूसरी ओर छुईमुई नहीं बन जाता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

था। अतः वैसे परिवार का व्यक्ति घबराहट में हाथ-पैर छोड़ (nervous breakdown) नहीं देता था।

सामाजिक स्वस्थ जीवन के लिये भी मन की दृढता अत्यंत आवश्यक है। दृढता का मतलब ढिठाई नहीं ! परिवार में मज़बूती धृष्टता की नहीं मिलती थी वरन् प्रेम और सहिष्णुता की मिलती थी। नज़दीकी रिश्तेदारों का प्रभाव स्निग्ध होने के कारण अंतरंग होता है। समाज में यदि नज़दीकी रिश्ते की दृष्टि ला सको तो अनेक सामाजिक कठिनाइयाँ स्वयं दूर हो जायेंगी। नज़दीकी के प्रति आज इतना विरोध है कि पति-पत्नी भी आपस में दुराव चाहने लगे हैं ! भारतीय परंपरा में अपरिचित से प्रेम करने की शिक्षा का एक सहज तरीका विवाह था—जिस लड़के-लड़की को पहले कभी देखा तक नहीं, विवाह के बाद उससे प्रेम करना सिखाया जाता था। उस परंपरा से हटे तो आज अपरिचित को देखकर संदेह होता है, उसके प्रति प्रेम के बजाये उसे दूर रखने की, स्वयं को बचाने की प्रवृत्ति होती है। पहले अपरिचित को भी भोजना कराना—यह अतिथि सत्कार गाँव-गाँव में स्वाभाविक था जबकि आज सुसभ्य घर में भी अनजान यात्री को भोजन की आशा नहीं होती। कारण यही है कि विवाह आदि ऐसे अनेक तरीकों से पहले शिक्षा मिलती थी, आज नहीं मिलती।

सूचना थमा देना शिक्षा नहीं है। सीखना शिक्षा है, जिससे देह-मन-बुद्धि में वह ढंग जज़्ब हो कि नूतन परिस्थिति आने पर अनुरूप व्यवहार करे। कवायद भी शिक्षा नहीं है कि निश्चित प्रतिक्रिया में दुहरा लेने से कोई शिक्षित मान लिया जाये वरन् सीखे आयामों में जब स्वतंत्रता पूर्वक नवीनता लाने की सामर्थ्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आये तभी शिक्षा मानी जाती है। विचार और भावना से न जुड़ा बाहरी आचरण सभ्यता (civilization) कहलाता है जबकि संस्कृति आत्मा का—अर्थात् पाँचों कोशों का—संस्कार है। रात-दिन झूठ बोलने वालों की कोई संस्कृति (culture) नहीं कहीं जा सकती। लोग बच्चों को ईसाई विद्यालय में भेजते हैं, कहते हैं "सुसंस्कृत (culture) करने के लिये भेज रहे हैं" जब कि उनकी दृष्टि ही संस्कृति की नहीं है। वे सभ्यता (civilization) तक ही पहुँचा सकते हैं। संस्कृतिका सम्बंध आत्मा से है। आज के विद्यालयों में सूचनाएँ (information) तो मिल जाती हैं पर शिक्षा और संस्कृति (education, culture) नहीं मिलती। शिक्षा तो विचारदृष्टि में आमूल उत्कर्ष लाती है, उत्तम दिशा देती है। वैदिक गुरु विद्यार्थी को गायें चराने भेज देते थे, बीस साल बाद प्रमाणपत्र दे देते थे "तू ब्रह्मनिष्ठ हो गया, घर चला जा"! गुरु अपने आचरण से, अपनी समग्र चेष्टाओं से, अपने जीवन से शिक्षा देता था तब शिष्य भी ब्रह्मतेज से सम्पन्न हो जाता था। शिक्षा का अभाव ही है कि अब भारत में भी गधा-पचीसी (juvenile delinquency) का विकृत रूप फैल रहा है। विदेशों में, उन्नत कहलाने वाले देशों में महाविद्यालयों के छात्रों में भ्रष्ट आचरण दृष्टिगोचर होते हैं। केवल सूचना मिले, शिक्षा न मिले तो यही फल सहज है। बच्चे को यह भी नहीं सिखाते कि वह भारतीय क्यों है ! वह यही सोचता है कि माता-पिता भारतीय थे इसी से मैं भारतीय हूँ ! भारतीय बनाने वाली विशेषता क्या है इसका कोई परिचय ही नहीं। 'तुम हिन्दू क्यों हो ?' का जवाब किसी ने दिया कि यह एक संयोग ही है ! (I am a Hindu by

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

accident !) यह सब अशिक्षा के लक्षण हैं।

मानव समाज का विकास सारी विचारधाराओं की गवेषणा पर निर्भर है। भारत ही नहीं अन्यत्र भी यह स्थिति है कि मानव की अभय की भावना जा रही है। हम सदाचार भी करते हैं तो भय के कारण, प्रेम से नहीं। यातायात के नियम भी दण्ड के भय से मानते हैं, औचित्यभावना से नहीं। अनुमत से ज़्यादा तेज़ गाड़ी चलाने को ग़लत मानकर न चलाते हों ऐसा नहीं वरन् पकड़े जाने के डर से नहीं चलाते। प्रेम की शिक्षा घर में ही मिलती है, चाहे जिस समूह में नहीं मिल सकती। जो सहजता परिवार में रख सकते हो उस सहजता से दोस्त के साथ नहीं रह सकते (you cannot be yourself with a friend)। परिवार में हमारी जो इच्छा सो कर लेते हैं, कोई खाद्य वस्तु कम है तो स्वभाववश ही हम स्वयं उसे कम खाते हैं। यह सहज प्रेम का व्यवहार है, किसी भय से नहीं होता। सामाजिक स्तर पर भी यह स्वाभाविकता, प्रेमप्रेरितता ला सकेंगे तभी समष्टि नियंत्रित रह सकता है, केवल दण्डभय से समाज सुव्यवस्थित रह सके यह संभव नहीं। बसों में चालक, संचालक (conductor) पहले चोरी नहीं करते थे क्योंकि उसे खुद ग़लत समझते थे। आज वह शिक्षा नहीं तो निरीक्षक (inspector), अधीक्षक (superintendent) चाहिये फिर भी चोरी नहीं रुकती। कर-विभाग और करदाता में प्रेम होता है तो हर व्यक्ति कर-विवरण (tax return) भेज दिया करता है और जहाँ प्रेम नहीं वहाँ अफसर छापे मारते हैं और धनिक धन छिपाता फिरता है ! अतः दण्डभय से समाज-संचालन कभी सफल नहीं होगा, प्रेम और शिक्षा से ही वह संभव है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जैसे शरीर अपने प्रत्येक अंग को संरक्षण प्रदान करने में तत्पर रहता है ऐसे समाज को व्यक्ति का संरक्षण करना है। आज वह संरक्षण के बजाये प्रबल होने से अपना दबाव डालता है। व्यक्ति-समाज का जीवित सम्बंध न रहकर अब समाज व्यक्तियों का समुदाय रह गया है। इसीलिये जीवन के मूल्य स्थापित नहीं हो पा रहे, जिनमें आत्मीयता हो ऐसी अर्हाएँ (spiritual values) वैयक्तिक या सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठित नहीं हो रही हैं। आज कोई यह परीक्षा नहीं करता कि क्या झूठ बोलकर लाभ होता है ? इतना धैर्य नहीं, तत्काल असर के लिये तुरंत झूठ बोलकर आगे चल देते हैं, उसके व्यापक प्रभाव की तरफ दृष्टि ही नहीं डालते क्योंकि ऐसी शिक्षा ही नहीं है कि समाज हमारा ही समष्टिरूप है, आज हम इसमें बुराई बोयेंगे तो वह हमारे ही व्यापक स्वरूप में और भी बड़ी बुराई के रूप में विकसित होगा। समाज-शरीर रुग्ण है, व्यक्ति भी उसके साथ ही नष्ट हो रहा है पर "वह हमारा ही समष्टिरूप है" इस ज्ञान के अभाव में समाज के प्रति आत्मीयतापूर्ण दायित्व न रहने से व्यक्ति समाज के रोग के उपचार के लिये सचेष्ट न होकर अपने ही अहित को बढ़ावा दे रहा है।

'जगत्यां जगत्' से श्रुति का संदेश है कि व्यक्ति समाज में ही रह सकता है। समाज से लाभ उठाकर समाज को कोई लाभ देने की कोशिश न कर हम समाज की मृत्यु के हेतु बनेंगे और समाज की मृत्यु के साथ स्वयं भी नष्ट होंगे। आवश्यकता प्रेमपूर्णता की है, डर के बजाये अभय की दृष्टि अपनाने की है। प्रेममयी आत्मीयता से ही समाज में अभय हो सकता है। विनाश

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की दृष्टि किसी के भी लाभ की नहीं है। वास्तविक प्रेम तभी हो सकता है जब आत्मदृष्टि हो। सर्वत्र आत्मदृष्टि होने पर सर्वत्र प्रेम स्वाभाविक होगा। यह पूर्णता तभी प्राप्त होगी जब स्वयं आत्मरूप से प्रतिष्ठित रह पायेंगे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पाँचवाँ प्रवचन

ईश्वर ही आधार

वेद ने हमारे सामने विचारपूर्वक समझने का दृष्टिकोण रखा। विचार वस्तुतः सारे पहलुओं का आकलन करता है। एकांगी विचारधारा सरल हुआ करती है, सब दिशाओं में देखना कठिन होता है। वैदिक सब देश-कालों के संदर्भ में विचार पर ही बल देता है न कि एकांगी चिंतन पर। विचार मार्ग का महत्त्व शास्त्र में व्यक्त है और साथ ही विचार की कठिनाई भी समझा दी है "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति"—तेज़ तलवार की धार पर सन्तुलन (balance) जैसा विचारमार्ग पर चलना है ! इसीलिये वह दुर्गम पथ है।

सामान्य दृष्टि से हमारे सामने दो दृष्टिकोण आते हैं—इहलौकिक और पारलौकिक। इनमें से किसी एक पर निर्भर रहने से प्रगति संभव नहीं, दोनों को अपनाकर ही संभव है। बल्कि इन दोनों के साथ जो तीसरा लोकातीत है, उसी पर आधारित रहकर इन दोनों को सँभालने से वास्तविक प्रगति है। मनुष्य न केवल साँस लेकर ही जी सकता है, न छोड़कर ही! साँस लेना और छोड़ना इन दोनों से इतर कोई है तभी ये दोनों चलते रहते हैं। साँस लेने में हम बाहर का, समष्टि वायु का एक अंश अंदर लेते हैं। समष्टि का हमारे अंदर प्रवेश होता है। जब हम साँस छोड़ते हैं, उस अपानरूप निःश्वास से व्यष्टि अपने आपको समष्टि के अर्पण करता है। इसी तरह प्रत्येक व्यवहार में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समाज का उपकार हमारे अन्दर आता है और हमारा उपकार कर बाहर हो जाता है। समष्टि से ली साफ वायु हमारे शरीर को, खून को साफ करने से गंदी हो गयी, वह बाहर जाकर ही फिर साफ होती है। साँस भर लें, कुंभक कर लें तो आधे मिनट में ही जी घबराने लगता है। हमारे भीतर बनी रहे तो वायु साफ नहीं होगी, हमने जो पदार्थ उसमें घोल दिया है—जो कार्बन डाई आक्साईड (carbon di-oxide) उसमें मिला दिया है—उसे हटाकर पुनः उस वायु को शुद्ध, साँस लेने योग्य बनाने की सामर्थ्य समष्टि में ही है। प्रसिद्ध ही है कि पौधे उसी हवा का ऐसा प्रयोग करते हैं कि क्लोरोफिल (chlorophyll) की सहायता से उन्हें तो भोजन मिल जाता है और हवा संशोधित हो जाती है। और भी प्रकार प्रकृति में हो सकते हैं वाय शोधन के। हर हालत में समग्र वायु का शोधन समष्टि की शक्ति से ही संभव है इसमें कोई संदेह नहीं। इसी तरह मानव और समाज का परस्पर आदान-प्रदान है : प्रत्येक व्यक्ति समाज से उपकृत ही होता है और व्यक्ति में यह सामर्थ्य भी है कि वह ऐसा कुछ करे—जैसा वायु के संदर्भ में पौधों ने किया—जिससे समष्टि का लाभ हो, भले ही व्यक्ति खुद सारी व्यवस्था समझ न पाये कि उसकी चेष्टा का समष्टि में क्या लाभ है, फिर भी उसमें शक्ति निहित है। इस लेन-देन से ही वह चक्र चलता रहता है जो स्वाभाविक प्रक्रिया में होने वाली कमी को पूरा करता रहता है। धन भी यदि कोई इकट्ठा करके रख दे तो वह हानिकर होने लगता है क्योंकि लेन-देन के व्यापार में रहने पर ही धन का मूल्य रहता और बढ़ता है। व्यक्तिवादी अपनी ओर से समाज को कुछ देना नहीं चाहता और सोचता है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कि समाज से वह कुछ न ले तो अच्छा है; यह एकाकिता (singularism) है। कुछ आदर्शवादी केवल समष्टिवाद (universalism) की बात करते हैं। ये दोनों दृष्टियाँ एकांगी हैं।

वेद का कहना है कि व्यक्तिभिन्न समष्टि और समष्टि-भिन्न व्यक्ति, दोनों जिस पर आश्रित हैं उस ईश्वर की ओर दृष्टि करने से ही सामरस्य संभव है। यद्यपि व्यष्टि-समष्टि में परस्पर केवल भेद होता नहीं, अभेद भी रहता ही है, तथापि जब तक नासमझी है तब तक अभेद स्फुट न होकर भेद ही प्रतीयमान होता है। जैसे प्राण और अपान उस मध्यबिंदु पर उपाश्रित हैं जो इनसे इतर और इनका आधार है वैसे ही ईश्वर मानव और समाज का आधार है क्योंकि ईश्वर ही व्यक्ति एवं समाज दोनों रूपों में उपस्थित है। केवल विष्णुलोक या कैलास में रहने वाला वैदिक ईश्वर नहीं है ! व्यक्ति और समाज का आधार भी वही ईश्वर है। नर्य संस्कृति में ईश्वर हमसे दूर है पर दिव्य संस्कृति का ईश्वरवाद उसे तुम्हारे अत्यंत पास बैठाता है। ईश्वर ही जीव-जगत् रूप से, व्यक्ति और समाज रूप से अभिव्यक्त हुआ है। व्यक्ति रूप से करने वाला, समाज रूप से रहने वाला ईश्वर ही है, व्यक्ति-समाज दोनों उसके मानो घटक बन जाते हैं। मर्य दृष्टि में ऐंद्रिय अनुभव और विषय ही प्रधान है तथा नर्य दृष्टि में ऐहिक की कीमत नहीं है, दिव्यदृष्टि दोनों को ईश्वररूप से समान महत्त्व देती है। इहलोक-संबंधी स्थूल शरीर और जन्मान्तरगामी मनआदि सूक्ष्म शरीर दोनों ही ईश्वर हैं। अतएव हमारे आचार्य ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन कराते हैं

"प्रत्यक्षेणोपलभ्यन्ते सर्वैरप्यष्टमूर्तयः"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परमेश्वर की आठ मूर्तियाँ सब को प्रत्यक्ष ही उपलब्ध हैं। द्रष्टा या दृश्य किसी एक पर ही केंद्रित न होने वाला यह संग्रथित रूप (integrated system) ईश्वर का है। पाँचों महाभूत, सूर्य, चंद्र और जीव—ये परमेश्वर की आठ मूर्तियाँ सबको प्रत्यक्ष हैं। जीव द्रष्टा तथा बांकी दृश्य हैं, दोनों अर्थात् देखने वाला और जो दीखता है वे परमेश्वर का ही रूप हैं, द्रष्टा-दृश्य जगत् ईश्वर ही है। श्रौत-स्मार्त विचार ईश्वर की इस व्यापकता के आधार पर ही विकसित होते हैं।

व्यक्ति-समाज के संश्लिष्ट (integrated) रूप के अनुसार ही वास्तविक प्रगति संभव है। वेद का व्यवहारवाद भौतिक सुख का विरोध नहीं करता, यही सावधान करता है कि केवल इंद्रिय सुख ही मत प्राप्त करो, उसके व्यापक पक्ष को भी दृष्टि में रखो अर्थात् तुम्हें जो भोग हो रहा है उसमें जो समाज की देन है उसे अनुभव करो। भोजन करते हैं तो न केवल खाद्य-पदार्थ का सुख मिलता है वरन् जिस प्रेम से वह खिलाया जा रहा है उसका भी सुख प्राप्त होता है। स्थूलप्रधान पदार्थ पर एकाग्र होकर प्रेमसुख से वंचित रहता है, भावनाप्रधान पदार्थसुख का पूर्ण उपभोग नहीं कर पाता, समन्वित दृष्टि वाले को ही दोनों की समग्रता प्राप्त होती है। वैदिक का कहना है कि ऐंद्रिय सुख का भी स्पर्श इसलिये करो कि ईश्वर ही भोग्य बनकर आया है। यह याद रखना है कि पदार्थ जो सुख देते हें उसमें हेतु है परमेश्वर का प्रेम अतः उपभोग्य रहने पर भी पदार्थ नहीं हावी होता वरन् महत्त्व उसके द्वारा प्रकट होने वाले परमेश्वरप्रेम का हो जाता है। इसलिये पसंद के पदार्थ की मात्रा घट जाने से घबराहट नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होती। व्यक्ति यदि वस्तुओं को ही महत्त्व देता है तो दस रुपये के फायदे से संसार को बहिश्त समझता है और दस की ही चोरी हो जाये तो उसे लगता है कि संसार शून्य हो गया! ईश्वर की ओर दृष्टि रहने पर यह तुच्छता नहीं आयेगी, यों विचलन नहीं होगा। जो भी पदार्थ हमें उपलब्ध होता है, वस्तुतः परमेश्वर ही वह पदार्थ बनकर हमारे सामने आता है। सुख पदार्थ के नाम-रूप का नहीं है वरन् आभ्यन्तर है, आत्मा का है; भोग के समय परमेश्वर हमें सुख देता है। मिठाई खाने पर मुँह में मिठास चीनी की ही आती है, बेसन-मैदे की नहीं, वे तो मिठास मुँह तक पहुँचाने वाले ही हैं; ऐसे ही पदार्थ केवल निमित्त बनते हैं, सुख तो ईश्वर ही देता है।

समाजरूप धारण कर जैसे ईश्वर व्यक्ति को देता है वैसे ही व्यक्तिरूप धारण कर परमेश्वर ही समाज के लिये भी देना चाहता है। इस संग्रथितता को छोड़कर व्यक्ति- निष्ठता-रूप स्वार्थ से प्रगति कभी भी हो नहीं सकती। ऐसे स्वार्थ के लिये प्रगति का प्रयास हेय है। सम्पूर्णता का बोध रहने पर "इससे मुझे—केवल मुझ व्यष्टि को—क्या मिलेगा" यह विचार नहीं आता क्योंकि व्यष्टि का समष्टि से अभेद स्फुट रहने के कारण यह वास्तविकता प्रकट रहती है कि व्यष्टि को अन्ततः मिल वही सकता है जो समष्टि में मौजूद है, समष्टि से स्वतंत्र व्यष्टि की सत्ता नहीं है। बाह्य व्यवहार आसक्त-अनासक्त का समान होता है पर क्योंकि जिस प्रेरणा से व्यवहार हो रहा है उसमें महान् अंतर है इसलिये व्यवहार का स्तर बदल जाता है। सत्य के विद्वान् की क्रियाशीलता तो मर्त्य व्यक्ति की तरह होगी पर वह करेगा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोकसंग्रह के लिये, सबके वास्तविक हित के लिये, सबको उस हित के प्रति जागरूक करने के लिये। रमण महर्षि से एक बार निष्काम कर्म के बारे में पूछा गया। उनका उत्तर देने का ढंग विलक्षण होता था : घूमने निकले। रास्ते में एक कँटीली लकड़ी मिली, वे दो घंटे तक बैठकर उस छड़ी के काँटे निकालते रहे फिर पत्तों से उसे साफ किया। भक्त सोच रहे थे 'यह छड़ी मुझे मिले,' 'मुझे मिले'। तब तक एक ग्वाला गायें चराता आ रहा था, उसने दूर गाय को छड़ी मारी तो वह छड़ी कहीं झाड़ी आदि में खो गयी। महर्षि ने वह साफ की हुई छड़ी उस ग्वाले को दे दी। निष्काम कर्म करके उत्तर समझा दिया। छड़ी तैयार की, कर्म किया, पर छड़ी को फैंक नहीं दिया, जिसे आवश्यकता थी उस ग्वाले को वह दे दी। दिव्य दृष्टिकोण से क्रिया निरन्तर होती है पर स्वार्थ अर्थात् व्यष्टि के लिये कोई प्रयत्न नहीं होता। नर्य-मर्य से बढ़कर दिव्य में पहुँचने पर यह नवीन दृष्टि मिलती है जिससे निरंतर क्रिया होती है जो सारे समाज की प्रगति करती है।

आत्मा में अनंत शक्ति है। व्यक्ति का भी उस शक्ति से सम्पर्क है पर व्यक्तित्व के, व्यष्टिभाव के कारण वह अत्यंत सीमित शक्ति वाला हो जाता है। मर्य संस्कृति की नैतिकता सापेक्ष रहती है जबकि निरपेक्षतावादी निश्चित अपरिवर्तनीय (absolute, unchanging) नैतिकता के समर्थक हैं। दिव्यदृष्टि का आधारभूत सिद्धांत है कि जड- चेतन में एक ही आत्मशक्ति है, उसका विकास होना चाहिये। नैतिकता की सापेक्षता तभी संभव है जब भेद हो, जब सर्वत्र एक ही आत्मा है तब सापेक्षता को कहाँ स्थान मिलेगा ! एक ही आत्मशक्ति स्वीकारने पर स्वातंत्र्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निःसीम हो जाता है। प्रकृति की गुलामी, भाग्यवाद, मर्य संस्कृति में पनपते हैं। कामतत्त्व (id), मनःशक्ति (libido), व्यवहारवाद (behaviourism) आदि मानने वाले स्वयं को स्नायुतंत्र के नियमों के अन्तर्गत स्वीकारते थे। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के डॉक्टर ब्राइटमैन कहते थे कि पीयूषग्रन्थि (pituitary gland) का स्राव अधिक होना लोगों को आस्तिक बनाता है ! किन्तु परतंत्रता का यह दृष्टिकोण निस्सार है क्योंकि दूसरा कहेगा कि उस ग्रन्थि का स्राव कम होना लोगों को नास्तिक बना देता है ! दोनों हालतों में लोग परतंत्र रहे, ग्रंथि का साम्राज्य रहा। यह आत्मा की अनंत शक्ति वाले दिव्य भाव की दृष्टि नहीं है।

पूर्वनियत (predestination) मानने वाले कार्यकारण- भाव के गुलाम हैं। मर्य संस्कृति की यह दृढ मान्यता है। नर्य कहता है 'हम प्रकृति से उदासीन हैं'। दिव्य स्वयं को प्रकृति का मालिक मानता है। उसका कहना है कि जीव के भोग के लिये प्रकृति है। पिता हमें खेलने को खिलौने देते हैं, यदि कोई खिलौना हमें नापसंद है तो हम दूसरा माँगेंगे। आज के लोग कहते हैं 'हम दुनिया को बदल सकते हैं' उनका 'हम' व्यक्तिनिष्ठ है, वैयक्तिक विवेक को निर्णायक मानते हैं। दिव्य दृष्टि वाला भी स्वातन्त्र्य अनुभव करता है पर सीमित परिच्छेद में नहीं, ईश्वर-स्तर पर, समष्टि-स्तर पर, सीमा समाप्त होने के बाद वाले ज्ञान को निर्णायक मानकर। प्रकृति के पदार्थों से हम खेलें यह दिव्यवादी का कहना है। कार्यकारणभाव को भी देखने वाली चेतन सत्ता है जो उसे सत्तान्वित करती है अतः स्वतंत्रता चेतन की है न कि कार्यकारण भाव की। परामनोविज्ञान (para psychology) बताता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है कि मन पदार्थों पर प्रभाव डालता है। उस मन का भी मालिक तो आत्मा है अतः वह प्रकृति को बदल सके इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। विश्वामित्र की शक्ति दिव्य संस्कृति में संभव है। यद्यपि दिव्यता इसमें नहीं कि समष्टि से विरुद्ध होकर व्यष्टि अपनी सामर्थ्य का प्रयोग करे तथापि अपनी महान् सामर्थ्य का स्फुट बोध पराजयवाद (defeatism), निराशावाद (pessimism) को हटाकर अप्रतिहत आशावाद को स्थापित करता ही है।

सामाजिक स्तर पर आत्मशक्ति का विकास होगा तो प्रगति समाज के घटकों में दीखेगी। समस्त शक्ति का विकास किसी एक व्यष्टि में नहीं हो सकता। एक ही बिजली है पर तापक, शीतक, प्रकाश, पंखा—सबके लिये विभिन्न स्थल (points) चाहिये, अलग-अलग खटकों (switches) से उनका नियंत्रण होगा। इसी तरह एक ही आत्मशक्ति विभिन्न यंत्रों में विभिन्न सामर्थ्य प्रकट करती है। यह संभव नहीं कि समग्र आत्मशक्ति का विकास किसी एक व्यष्टि में पूर्णतया हो जाये किन्तु जहाँ भी शक्ति का वैभव है वहाँ है वह अभिन्न आत्मशक्ति का ही। पहलवान में उसी का भौतिक प्रस्फुटन है, वैज्ञानिक के मन में वही शक्ति प्रकट हो रही है। यह याद रहे तो किसी के आगे बढ़ने के प्रति ईर्ष्या संभव नहीं क्योंकि जहाँ कहीं भी बढ़ोत्तरी है वह आत्मशक्ति का ही विकास है। यों सबके आगे बढ़ने में समंजस सौहार्दपूर्ण प्रगति होती है। आत्मशक्ति अनंत है अतः प्रगति कभी खत्म नहीं हो सकती कि दूसरे ने कोई प्रगति कर ली तो हम प्रगति करने से वंचित रह जायें। चाहे जितनी प्रगति हो जाये, आगे प्रगति के असीम मौके हमेशा रहेंगे। दिव्यदृष्टि प्रगति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को सान्त नहीं मानती। विज्ञान और धर्म को परस्पर दूर रखने वाली दीवाल दिव्यसंस्कृति में नहीं खींची जाती। आत्मशक्ति वन्ध या नहीं हो गयी है कि किसी क्षेत्र में प्रगति रुक जाये। विज्ञान की प्रगति से, यदि ज़रूरी होगा तो धर्मक्षेत्र में प्रगति न हो सके ऐसा कोई कारण नहीं है। क्योंकि आत्मशक्ति ही सर्वत्र विकसित होती है इसलिये प्रेमपूर्वक प्रगति दिव्यसंस्कृति में संभव है, प्रतियोगिता के दबाव के बजाय सहयोग का आश्वासन संभव है। अतएव समाज में मधुरभाव बना रहता है।

एक ही कमरे में आवश्यकतानुसार बीच में पर्दा खींचकर अंदर-बाहर का व्यवहार हो जाता है, कमरा अखंड बना रहता है या खेत में मेड़ बनाकर अलग-अलग क्यारियों का व्यवहार हो जाता है, खेत अखण्ड रहता है; इसी प्रकार व्यक्ति-समाज, जीव-ईश्वर का जो व्यवहार है यह कल्पित भेद से ही हो रहा है, आत्मतत्त्व अखण्ड ही है उसमें कभी कोई वास्तविक भेद नहीं है। इस सत्य अखण्डता को जानने से दिव्यदृष्टि वाले को कहीं भी उन्नति हो उससे द्वेष नहीं हो सकता। इस निरन्तर अग्रगामी दृष्टि में डर (fear), चिन्ता (anxiety), तनाव (tension) आदि को कोई स्थान नहीं है। भेद दृष्टि रहने पर, अपने से सर्वथा अलग कोई दूसरा है ऐसा देखने पर उससे घबराहट हो सकती है पर जब पता है कि सचमुच कोई दूसरा नहीं है तब घबराहट (nervousness) नहीं होगी। भेदभाव के चलते ही स्वाभाविकता नहीं रह पाती तो तनाव होता है : कोई दूसरा घूर रहा हो तो व्यक्ति सहज नहीं रह पाता, तनावग्रस्त हो जाता है पर जब जानता है कि दूसरा कोई है ही नहीं तब तनाव कहाँ रह सकेगा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

! इस अखण्डता का बोध न होने से जहाँ 'दूसरा' दृष्टि होती है उसकी उन्नति देखकर व्यक्ति हो या समाज, घबराहट, ईर्ष्या हो जाती है। भारत का कोई प्रान्त प्रगति करे तो हमें बुरा नहीं अच्छा लगता है पर अब पाकिस्तान उन्नति करे तब हमें लगता है कि उसकी उन्नति क्यों है ! यदि भारत अखण्ड रहा होता, पंजाब, सरहिंद आदि भारतीय प्रांत होते तो ऐसा भाव नहीं आता। अखण्ड आत्मा की दृष्टि का विकास होने पर तनाव मिट जाता है।

भेद को सत्य मानने से ही आज आदर्शों के लुप्त होने की समस्या आ रही है क्योंकि इसका हेतु है नकल की प्रवृत्ति जो यह मानकर है कि मुझसे या मेरे समाज से सचमुच अन्य कोई है जिसका रंग-ढंग वास्तव में मेरे, मेरे समाज के रंग-ढंग से बेहतर है। केवल भेद देखकर नकल नहीं होती, उसे वास्तविक और बेहतर मानने पर नकल होती है। आत्मशक्ति पर विश्वास रहे तो स्वयं के रंग-ढंग को विकसित करेंगे, दूसरे की नकल नहीं करेंगे; अपने आदर्शों के परिष्कार खोजेंगे, दूसरों की आदर्शहीनता से आकृष्ट नहीं होंगे। व्यक्ति या समाज किसी तरह स्थगित (stagnate) नहीं रह सकता पर नकल या हीन की ओर प्रवृत्ति आत्मशक्ति के अपरिचय का ही फल है।

कल क्या होगा, अज्ञात परिस्थिति कैसे संभलेगी यह चिन्ता (anxiety) आत्मनिःशक्ति की दृष्टि है। अब तो लोग व्यक्ति पर इतना निर्भर महसूस करते हैं कि सोचते हैं कि जब नेहरू जी नहीं रहेंगे तब क्या होगा ! बड़े से बड़े महापुरुष भी आकर गये ही, कोई-न-कोई उनकी कमी यथासंभव पूरी करता रहा। आत्मा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनन्त शक्ति वाला है, जिस क्षेत्र के लिये अपेक्षित हो उसमें उसकी शक्ति विकसित करें—इसमें उत्साह होगा दिव्यदृष्टि वाले को, जबकि जो प्रकृति-पारतन्त्र्य में ही जीना जानता है वह त्रस्त, आतुर, चिंतित ही रहेगा। आत्मदृढता के अभाव में जब जो उपस्थित है तब उसे संभालने में सारी सामर्थ्य से लगते नहीं हैं। छात्र भी 'परीक्षा में क्या होगा' की चिंता में समय गँवा देता है, वही समय पढ़ने में लगा दे तो आराम से उत्तीर्ण हो जायेगा। वेद का सिद्धांत है कि जो है वही निरावृत होता है। यह अत्यन्त सबल सहारा है कि हममें असीम शक्ति मौजूद है, ज़रूरत केवल उसके विकास की, अनावरण की है। हमें अपनी छिपी हुई किन्तु विद्यमान शक्ति का विकास करना है। कोई काम न करने से वह काम करने की शक्ति क्षीण हो जाती है जैसे पैदल चलने का अभ्यास न रहे तो दो मील भी चल नहीं पाते, थक जाते हैं। मानस, बौद्धिक, वैचारिक आदि सभी शक्तियों का यही हाल है। प्रतिदिन पाँच शब्द-अर्थ याद करते रहें तो स्मरणशक्ति बनी रहेगी, बढ़ती जायेगी। जैसे लोहे के औजार को काम में लेते न रहें तो जंग लगकर वह निरर्थक हो जाता है वैसे ही शरीरादि औजारों को निरुपयोगी छोड़ने से वे भी निष्फल हो जाते हैं। आत्मशक्ति को जानने वाला यों अपने उपकरणों में 'जंग' नहीं लगने देता, उनकी क्षमता क्षीण नहीं करता। मानव व्यक्तित्व विकास का एक केंद्र है, इसके विकास की अनंत संभावनाएँ होने से न इस संतोष को स्थान है कि "दूसरे से मैं बेहतर हूँ तो काफी है" और न इस प्रतिद्वंद्विता को कि 'मुझे दूसरे से आगे बढ़ना है'; आगे बढ़ना ज़रूर है क्योंकि बढ़ने की योग्यता है; लेकिन किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से तुलना के लिये नहीं। जैसे पढ़ा ज्ञान के लिये जाता है, साथी से अधिक अंक पाने के लिये नहीं, कसरत शक्ति के लिये करते हैं दूसरे को पछाड़ने के लिये नहीं, ऐसे ही हर क्षेत्र में अपना विकास अपनी असीमता के निरावरण के लिये करना है जिससे आत्मशक्ति पूर्ण विकास की ओर बढ़े और समष्टि की असीम उन्नति के रूप में प्रकट हो।

विकास की भावना सामाजिक स्तर पर तभी पनपती है जब हमारे अंदर घृणा पैदा न हो, ऊपर की सीढ़ी वाला निचली सीढ़ी वाले को गिरा हुआ न समझे। नर्य संस्कृति की दृष्टि ऐसी निश्चितता की है जिसमें मानो एक रेखा खिंच जाती है जो बदलेगी नहीं, कि यह ठीक है, यह ग़लत है। यह मानसिकता प्रगति पर रोक लगा देती है। मर्य में मूल्यों को सापेक्ष (relative values) तो मानते हैं पर दिशा (direction) का निर्धारण वहाँ नहीं है। दिव्य संस्कृति की दिशापरक नैतिकता (directional ethics) होने से यह मर्य से भी विलक्षण है। सीढ़ियाँ अलग-अलग होने का मतलब यह नहीं होता कि उनमें विरोध हो। सीढ़ी-दृष्टि होने से स्पष्ट होता है कि ऊपर की ओर जाने वाले की प्रगति है अर्थात् एकत्व के, अभेद के विकास को उन्नति माना जायेगा। एकत्व की भावना से दूर होना पतन है, जो भावना द्वेष का बीज है। एकत्व का चिन्तनमात्र नहीं वरन् उसे भावनापर्यन्त पक्व कर लेने से जब आशावादी दृष्टि यह बन जाती है कि वास्तव में एकत्व, पूर्णता है ही, केवल उस पर से आवरण हटाना है, तब निरन्तर प्रगति होती जाती है। मर्य में प्रधानता क्रिया की है, नर्य में ज्ञान की, परन्तु दिव्यदृष्टि इच्छा को प्रधान मानती है। किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ने रोगी को मार डालने के लिये जहर दिया पर वह कारगर नहीं हुआ या औषधि का ही काम कर गया, रोगी जी गया; इच्छाप्रधान की दृष्टि में तो जहर देने वाले से पाप हो ही गया। शल्य में चिकित्सक भूल कर गया, रोगी मर गया; इच्छा-आधारित दृष्टि चिकित्सक को पापी नहीं मानेगी क्योंकि उस दृष्टि में भूल पाप नहीं है; क्रिया में, ज्ञान में भूल हो ही सकती है। दिव्य ने इच्छा को मुख्य समझा अतः पाप का आधार इच्छा में माना, व्यवहार की, क्रिया की ग़लती के प्रति उसका भाव बना "सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाऽग्निरिवावृताः" कि जो कोई भी कार्य आरंभ किया जाये वह दोष से वैसे ही ग्रस्त होगा जैसे धुएँ से आग, अतः क्रिया को प्रकट करने में हुई ग़लती को उसने स्वाभाविक मानकर पापजनक नहीं माना, इच्छा से निर्णय को स्वीकारा। जैन आदि के प्रभाव से ऐसी भावना समाज के कुछ वर्गों में आयी कि खेती करने में कीड़े मरते हैं, हिंसा होती है, तो हम खेती न करें। यह उनकी समझ में नहीं आता कि उसी खेती से उपजा गेहूँ-चावल खायेंगे तो खेती की हिंसा के भागी क्यों नहीं बनेंगे ! ऐसे ही चाहते हैं फौज लड़े पर हम नहीं लड़ेंगे, लड़के को फौज में भर्ती कराने को तैयार नहीं होंगे। हमारी रक्षा के लिये फौज लड़ी तो उस कर्म के गुण-दोष में हमारा भी हिस्सा है—यह विचार तब नहीं आयेगा जब इच्छा की ओर दृष्टि न जाकर क्रिया पर केन्द्रित रहेगी।

जैसे व्यक्ति वैसे ही बहुधा समाज भी अधूरी दृष्टि रखता है। व्यापारी कमाता है तो समाज, राष्ट्र कर लेता है, लाभ में अपना भी अंश मानता है। किन्तु जब व्यापारी को घाटा होता है तब क्षतिपूर्ति (compensate) करना समाज, राष्ट्र अपना कर्तव्य नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समझता। जैसे व्यक्ति समाज से एक-तरफा लेना ही चाहता है वैसे ही इस विषय में दृष्टि है कि व्यक्ति से लेते ही चलें, दें नहीं। यह व्यक्ति-समाज के सामंजस्यपूर्ण व्यवहार का आधार नहीं है। जब एकता की दिशा में बढ़ने को मापदण्ड बना लिया तब लेने-देने दोनों में यही देखना है कि हम उस दिशा में बढ़ रहे हैं या नहीं ? हमेशा लेने या देने से ही उस ओर गति हो यह ज़रूरी नहीं, कभी न लेना या न देना भी एकता की दिशा में उठा क़दम हो सकता है। दिशा-निर्धारण के बाद व्यक्ति-समाज दोनों ओर से यह संश्लिष्ट (integrated) दृष्टि रखने से ही समन्वयपूर्वक पूर्णता की ओर विकास संभव है। समाज की एकता होने से, यदि हम गेहूँ खाना चाहते हैं तो उसे उपजाने में हुई हिंसा के भी हम भागी हैं यह समझना, स्वीकारना होगा। दिव्यदृष्टि में पाप-पुण्य का सम्बन्ध इच्छा से है।

विकास सामूहिक प्रयत्न पर निर्भर करता है लेकिन यह तभी होगा जब प्रत्येक घटक प्रयत्न करे। व्यक्ति स्वयं विकास के लिये यत्नशील है यही पर्याप्त नहीं है, उसे यह भी देखना पड़ेगा कि क्या वह दूसरों को विकास की ओर बढ़ा रहा है ? खुद विकास करते हुए अन्यों को विकास करने में सहायक बने यह हर व्यक्ति के लिये आवश्यक है, तभी सौहार्दपूर्ण, प्रतिस्पर्धारहित व्यापक विकास संभव होगा। इसलिये यदि आप प्रमादी हुए तो पापी बन गये ! पूर्णता की दिशा से विपरीत दिशा की ओर आपका योगदान हुआ अतः पाप हो गया। तमोगुणी व्यक्ति के पास बुद्धि ही कम है, वह उसका सीमित ही प्रयोग कर सकता है पर सत्त्वगुणी को उससे अपना मिलान नहीं करना, वह देखे कि अपनी अधिक बुद्धि का उसने भरपूर प्रयोग किया या नहीं ? यदि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आप सबके विकास के लिये प्रयत्नशील हैं तो आप पुण्य कर रहे हैं। ज्ञान व क्रिया के बीच में इच्छा रहती है अतः इसमें सामर्थ्य दोनों को संभाल लेने की है जिससे तीनों का ही सामंजस्य फलतः दिव्यदृष्टि में हो जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

छठा प्रवचन

स्वार्थ से नाश

मानव के समाज पर गम्भीरता से चिन्तन करने पर समाजघटकों के आपसी व्यवहार तीन तरह के समझ आते हैं जिनके मापदण्ड को नीति (ethics) के रूप में दार्शनिक दृष्टि से मर्य, नर्य और दिव्य भेद से संगृहीत किया जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से पहले नर्य संस्कृति की प्रधानता रही, फिर मर्य की। यद्यपि हमेशा सभी तरह के लोगों का अस्तित्व नकारा नहीं जा सकता तथापि प्राचुर्य के अभिप्राय से क्रमिक विकास की दृष्टि अपनायी जाती है। नर्य संस्कृतिका उद्देश्य नियत नय का है जहाँ अर्हा अपरिवर्तनशील मानी जाती है। अर्हानिर्धारण चाहे राज्य के आधार पर हो या व्यक्तिविशेष के, पर निर्धारित अर्हा न बदले यह नर्यदृष्टि है। ईसा से पाँचसौ वर्ष पूर्व ग्रीस में यही दृष्टिकोण पनप रहा था। भारत में शंख, लिखित आदि द्वारा रचित स्मृतिग्रंथ इसी पर बल देते हैं कि नियम अपरिवर्तनीय हैं। शनैः शनैः नर्य की अपेक्षा मर्यदृष्टि प्रधान हो गयी। नर्य के अनुसार क्रिया की प्रमुखता होती है : शंख अपने भाई लिखित के घर मुलाकात करने गये, लिखित उस समय घर में थे नहीं, इन्तजार करते हुए शंख को भूख लगी, भाई के बगीचे से दो फल तोड़कर खा लिये। लिखित के लौटने पर बातचीत में जब उक्त घटना प्रकट हुई तो लिखित ने उसे चोरी माना और शंख के हाथ कटवा दिये, यह उस चोरी का दण्ड था।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चुराने की 'दृष्टि' न होने पर भी क्रिया चोरी की हुई तो अपराध हो गया यह नर्य संस्कृति है।

पाश्चात्य साहित्य में ओडीपस (Oedipus) की कथा इस नर्यता को व्यक्त करती है। ओडीपस के जन्म पर उसके पिता को बताया गया 'तेरा पुत्र तुझे मार डालेगा' अतः पिता ने शिशु को एकान्त में छोड़ दिया जहाँ से उसे कोई और लेजाकर पालने लगा, उन्हें ही ओडीपस अपने माता-पिता समझता था। ओडीपस को भी यह पता चला कि वह अपने पिता की हत्याकर अपनी माता से विवाह करेगा। इस जघन्य हादसे से बचने के लिये उसने अपना घर छोड़ दिया, दूर देश की ओर चल दिया। मार्ग में ऐसी स्थिति बनी कि अपने जन्मदाता को—जिसे वह अपना पिता नहीं जानता था—उसने मार गिराया और उसकी पत्नी से—जिसे वह अपनी माता नहीं जानता था—विवाह कर लिया। जब वास्तविकता का पता चला तब उसे और माता दोनों को गंभीर अपराधबोध हुआ, माँ ने अपनी आँखें फोड़ लीं, ओडीपस ने आत्महत्या कर ली। ओडीपस ने अपराध-बुद्धि से अपराध नहीं किया था तथापि क्रिया आपराधिक थी अतः दण्ड भोगना स्वाभाविक माना गया। यह नर्य दृष्टि है।

भारत में ऐसी अनेक घटनाएँ हुईं कि जबर्दस्ती गोमांस खिला दिया गया या कुएँ से पानी पी लेने पर प्रकाशित किया गया कि कुएँ में गोमांस डाला गया था तो समाज ने उसे खाने वाले या उस पानी को पीने वाले व्यक्तियों को धर्मभ्रष्ट माना। स्त्रियों को मुसलमानों ने बलात् बिगाड़ा तो भी हिन्दू समाज ने स्त्रियों को भ्रष्ट मानकर उन्हें मुसलमान बनने पर बाध्य किया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नर्य संस्कृति में यह नहीं देखा जाता कि क्रिया स्वेच्छा (free will) से हुई या नहीं, इच्छा को महत्त्व दिये बिना क्रिया को फलका जनक माना जाता है। पाप का निर्णायक प्लेटो ने भी देवताओं की मनमानी (arbitrariness of gods) ही कही है ! भारतीय संस्कृति में भी नर्य दृष्टिकोण चलता रहा। आगे, सुदूर भविष्य में कल्याण-प्राप्ति होगी—यह भाव दृढ हुआ। विश्व की नश्वरता के दर्शन का प्रभाव हुआ कि नीति के प्रति निषेधात्मक दृष्टि (negativistic attitude) बनी। लौकिक सुख पाप से उत्पन्न माना जाने लगा, सांसारिक धन अनर्थ का कारण है ऐसा स्वीकारा गया। लौकिक धनादि भोग्य वस्तुएँ स्वरूपतः अनर्थहेतु हैं यह दृष्टि उचित मानी जाने लगी। पश्चिमी धर्म मुखतः सांसारिक सुखों को शैतान की देन कहते हैं। वैदिक सिद्धांत है कि संसार के सुख पुण्य से मिलते हैं पर नर्यों ने और पाश्चात्यों ने उन्हें शैतान की देन माना। अतः नर्य संस्कृति में इहलौकिक उन्नति को बुरा माना गया।

ईसानन्तर मर्य संस्कृति का विकास हुआ। इसमें भोग से सुख की नैतिकता (ethics of joy) पनपी। आज हम संवेदी नैतिकता (sentient ethics) पर ही जोर दे रहे हैं, अनुभव को ही प्रधान मान रहे हैं। आत्मप्रसादवाद (eudae-monism), सुखवाद (hedonism), उपयोगितावाद (utilitarianism)—ये सभी मर्य संस्कृति के प्रभाव जनता पर रहे हैं। नर्य संस्कृति भूतकाल की, ऐतिहासिक है; वर्तमान समस्या मर्य की है। सेण्ट विक्टर, सेण्ट टामस आदि के विचारों से पश्चिम में मर्य संस्कृति आयी। मर्य संस्कृति बुद्धि (oughtness) को नहीं मानती, फल से क्रिया को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अच्छा या बुरा मानती है। जिससे ऐन्द्रिय सुख बढ़े वही अच्छा स्वीकारा जाता है। संगीत आदि कला भी प्रियता, रुचिकरता से मापी जाती है कि उनपर किसी सिद्धांत का नियंत्रण नहीं, अपनी-अपनी पसंद का ही नियंत्रण है। "मेरी इन्द्रियों को प्रिय लगे वह अच्छा"—यह मर्य भावना है। इस दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति को अपना निर्णय स्वयं करना है। मर्य धर्म को भी जीवन में सुख देने वाले के रूप में देखना चाहता है। ऐन्द्रिय सुख दे तो धर्म को ठीक मानते हैं, पूछते भी हैं कि क्या शिखा रखने से, रुद्राक्ष पहनने से कोई लाभ होता है ? 'लाभ' से उनका मतलब ऐहिक, इन्द्रियग्राह्य सुखानुभव होता है। वेद से भी मर्य चाहता है विज्ञान के तथ्य निकालना ऐसे साधन पता लगाना जिनसे इहलोक में सुख भोग हो सके। मर्य संस्कृति का प्रभाव है कि चोटी-जनेऊ आदि रखने से ऐन्द्रिय सुख बढ़ता हो तो ज़रूर रखने चाहिये ! नास्तिक ही नहीं आस्तिक भी वेदों में ऐन्द्रिय सुख के उपाय देखना चाहते हैं। पाश्चात्य संस्कृति के इतिहास में आर.एच. टॉनी (R.H. Tonny) इस दृष्टि की परिणति आत्महीन विशेषज्ञों और हृदयहीन भोगवादियों (speacialists without souls, sensualists without hearts) में दिखाते हैं। विशेषज्ञ मशीनी होते जायेंगे, भोगी निर्मम होते जायेंगे। ऐसे लोग मिलने लगे हैं जो विवाह से आर्थिक लाभ खोजते हैं ! उक्त ग्रंथकार कहते हैं कि यह दृष्टि शून्यता होने पर भी स्वयं को सर्वश्रेष्ठ सभ्यता माने बैठी है ! (This nullity imagines itself to be civilization which surpasses all civilization!) ।

नीति (ethics) जब सर्वथा इन्द्रियनिष्ठ होती गयी तब मानस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धरातल का अवनयन स्वाभाविक ही था। भोगोन्मुखता बढ़ जाने पर शुद्ध पदार्थों को समझने की शक्ति नष्ट हो जाती है। मन जिसे काटने में तत्पर हो जाता है उसका नाश निश्चित है। भारत में आज नेता लोग हमारी संस्कृति के अनेक तत्त्वों को तोड़ रहे हैं फिर भी आशा व्यक्त करते हैं कि भारत की संस्कृति जीवित रहेगी ! जिसके ध्वंस की तैयारी कर रहे हैं उसका स्थायित्व रह कैसे सकता है ? परमेश्वर तक को फायदे के लिये मानना चाहते हैं कि यदि नहीं मानेंगे तो हर-एक के पीछे एक-एक सिपाही रखना पड़ेगा ! सत्य की कीमत स्वयं है पर मर्य पूछते हैं कि सत्य से लाभ क्या है ! यदि कह दें कि उससे तुम्हारा माल ज़्यादा बिकेगा, क्योंकि सत्य की साख (creditworthiness) है तो वे सत्य को स्वीकारने को तैयार हैं। सौंदर्य को कमाई का साधन बनाना चाहते हैं। अध्ययन भी नौकरी पाने के लिये करते हैं। शौक से, जिज्ञासा से आभियान्त्रिकी (engineering) पढ़ने वाले मर्यों में दुर्लभ ही होंगे। कला, सौन्दर्य, विज्ञान आदि सभी फायदे के मापदण्ड से नापे जाते हैं। मर्य संस्कृति तुरन्त और दृष्ट फल पर जोर देती है। ऐसा रोगी भी डॉक्टर से कहता है "ऐसी दवा दीजिये कि कल तक ठीक हो जाऊँ।" रोग मिटे—यह रोगी को भी इच्छा नहीं रह गयी है !

मर्य संस्कृति बदलाव चाहती है। हर छठे महीने बच्चों के परिधान आदि का रिवाज़ (fashion) बदलते जाना इस संस्कृति के अनुरूप है। बौद्धिक विलास में भी इसी तरह समय-समय पर अलग-अलग सिद्धांतों (theories) का रिवाज़ चलता है! अपने शहर-जिले का संगठन नहीं करेंगे क्योंकि उसमें कार्य की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एकरूपता ही रहेगी, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनायेंगे कि जगह-जगह जायें-आयें, तरह-तरह के कार्यक्रम हों। इस संस्कृति को 'ध ड़ाका' पसंद है, अचानक कोई 'बड़ा काम' अर्थात् हो हल्ले का, सर्वत्र प्रचारित कार्य होना चाहिये; उस कार्य को कायम रखने की कोई मंशा नहीं होती, मानो ज़ोर से चमक (spark) कर संगलक (fuse) उड़ जाता हो ! जिन तर्कों का जवाब दो हज़ार वर्ष पूर्व दिया जा चुका है उन्हीं तर्कों को नई खोज के नाम से ग्रंथाकार में प्रकाशित करते हुए उसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना बताया जाता है, बाद में चाहे वह पुस्तक कोई न पढ़े, उसकी युक्तियों की कोई समालोचना न करे। मर्य दृष्टि वाले बाँचते भी पत्रिकाएं (magazines) हैं जिनमें हर महीने सनसनीखेज (sensational) किस्से आते हैं, ग्रंथ पढ़ने की उनमें रुचि नहीं होती क्योंकि वह काफी स्थायी प्रयास चाहता है। ऐसे लेखक भी कोई ठोस ज्ञान देने के लिये नहीं लिखते और अध्येता भी गंभीर ज्ञान नहीं चाहते। कुछ दिन गीता पढ़ेंगे, कुछ समय उपनिषदें पढ़ेंगे, धर्मशास्त्र पढ़ेंगे, कई बातों की चंचुग्राही जानकारी पायेंगे, एक की भी गंभीरता में उतरने की कोई इच्छा नहीं रखेंगे। दृष्टि हमेशा रुपये बढ़ाने की, आर्थिक लाभ की ओर रहती है। प्रकाशक भी धनबद्ध दृष्टि वाले हैं, धार्मिक या दार्शनिक ग्रंथ का नाम पढ़कर ग्राहक भड़केंगे, खरीदेंगे नहीं यह जानते हुए वे आवरण पर अर्धनग्न स्त्रियों के चित्र छाप देते हैं, और प्लेटो की 'रिपब्लिक' जैसी किताबें भी यों बेच लेते हैं। मर्य व्यक्ति सत्संग तक के लिये कहेगा "आज के सत्संग में बड़ा मज़ा आया।" 'मज़ा' यह भोगी का भाव है। 'हमने सीखा' यह दृष्टि नहीं बनती, सीखते भी नहीं ! सुनकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मज़ा ही लेते हैं। वक्ता भी धर्म के आधारभूत सिद्धांत नहीं सुनायेगा, क्योंकि उन्हें सुनकर मज़ा तो आना नहीं है, अतः किस्से-कहानियों से मन बहला देगा।

धनान्धता का बोल-बाला मर्य संस्कृति में बढ़ता जाता है। आदमी धन से अंधा हो जाता है, सिवाय धन के कुछ नहीं देखता। धन के लिये स्वयं को—अपने उसूल को, ईमान को—भी व्यक्ति बेच देता है ! ऐसी संस्कृति में वह पागल माना जाता है जो यों धनैकचक्षु न बने। धन की ऐसी महत्ता नहीं—यह कोई कहे तो सुनने वाला नहीं मिलेगा मानो अरण्यरोदन कर रहा हो ! आचार्य नीलकण्ठ ने मर्यमत वालों पर कटाक्ष किया है कि वे धर्म-ब्रह्म का भी 'निवेश' करते हैं ग्राहक का विश्वास लेने के लिये

'सदा जपपटो हस्ते मध्ये मध्येऽक्षिमीलनम्।
सर्वं ब्रह्मेति वादश्च सद्यः प्रत्ययहेतवः।।'

सेठ का हाथ गोमुखी में ही चलता रहे, बीच-बीच में वह आँखें मीचकर ध्यानमग्न हो जाया करे, 'सभी परमात्मा ही है' ऐसा कहा करे तो खरीददार उसपर तुरंत विश्वास कर लेता है ! बीमा कम्पनी 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' के नारे से गीता बेच रही है ! बिक्री बढ़ाने के लिये अखबारें खबरें खोजती हैं ! लोग अपनी आत्मकथाएँ पैसा कमाने के लिये लिखने लगे हैं। ०

मर्य दृष्टिकोण नैतिक बिखराव (moral atomism) लाता है जिससे कुछ सही रह जाता है, कुछ गलत हो जाता है तो इनमें तुलना होने लगती है जिससे सापेक्षता (relativisim) प्रतीत होती है और जब सर्वत्र सापेक्षता दीखती है तब सभी मूल्यों को स्वतः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शून्य (nihilism) मानना स्वाभाविक लगता है। टुण्ड्रा में मांस न खायें तो क्या करें ?—यह प्रश्न उठाकर मांस खाने को 'कहीं ठीक' ठहरायेंगे फिर सर्वत्र ठीक होने में क्या रुकावट ? अतः यहीं खाने लगेंगे ! धन के प्रति इतनी महत्ताबुद्धि हो गयी है कि सबको लगता है कि उससे कुछ भी खरीदा जा सकता है। साम्यवादी भी प्रारंभ करेगा आर्थिक समता की बात लेकिन कोशिश करेगा अधिकाधिक धन बटोरने की। दुनिया के मज़दूरों को एकजुट करने वाले भी नारों तक 'दुनिया' की बात करते हैं, व्यवहार में अपनी प्रगति में लगते हैं। अपनी रोटी में से देना पड़े तो समता का आकर्षण समाप्त हो जाता है। कारण मर्यता ही है क्योंकि तात्कालिक ऐन्द्रियता की प्रधानता रहते नैतिकता (morality) टिक नहीं सकती, नैतिक स्तर पर शून्यता (nihilism) का ही साम्राज्य हो सकता है। यह धारणा बनती जाती है कि कोई सिद्धांत सत्य नहीं, सत्य वह है जो हम मानें ! मानवता का जोर-शोरं से नारा लगाते हैं, किसी देश पर कोई आक्रमण कर दे तो तटस्थ (neutral) बन जाते हैं ! लेकिन उन्हीं पर आक्रमण हो तो दुहाई देते हैं कि मानवता के नाते सबको मदद करनी चाहिये। कारण है कि उनके लिये मानवता कोई वास्तविक मूल्य तो है नहीं, उपयोगी बात (utilitarian value) है अतः जब लाभप्रद हो तब उसे काम में लेना चाहते हैं। हिटलर और यहूदियों में क्या समानता थी ? यही कि दोनों ऐहिक लाभ पर केन्द्रित हो गये थे, यहूदी धनपर और हिटलर बल पर, लेकिन दोनों की दृष्टि मर्य थी। उसी के चलते हिटलर ने जब यहूदियों को दबाना प्रारंभ किया तब यहूदियों को अनुचित लगा; अर्थात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मर्यदृष्टि ग़लत है ऐसा नहीं वरन् वह हमारे विरुद्ध हो तब ग़लत है !

नर्य संस्कृति में जब तक अन्य कारण न हो तब तक पहले विश्वास करते हैं परन्तु मर्य संस्कृति में विश्वास का कोई स्थान नहीं है। साझीदार तक को फँसाना—यह मर्य में सहज है। चाहे व्यक्तियों के संपर्क के संदर्भ में हो या समाज के, मर्य व्यवस्था में कोई सुनिश्चित नियम (categorical imperative) नहीं होता, किसी मर्यादा को रखा नहीं जा सकता क्योंकि मर्यादा तो मर्य का अदन, भक्षण कर जाती है ! मर्य को खा जाये उसे ही मर्यादा कहेंगे, वह नर्य में होगी पर मर्य में नहीं हो सकती। अतएव नर्य और मर्य एक साथ रहें यह असंभव है। सापेक्षता (relativism) मानने पर नैतिक जीवन का निर्णायक हर-एक व्यक्ति और आगे उसकी भी तत्तत् परिस्थिति हो जाती है तो मर्यादा कैसे होगी ! मर्य अपने ढंग से चलता है, कानून-विरुद्ध कुछ करता है, पकड़ा जाता है; वह यह नहीं स्वीकार सकता कि "ग़लती की अतः दंडित हुआ" वरन् उसे लगता है "किस्मत की बात है कि मैं फँस गया"! सोचते हैं कि अधिक सशक्त होते, धन सम्पर्क आदि वाले होते, तो बच सकते थे। यहाँ तक कि न्यायाधीश के प्रति भी भाव बनता है "मेरी ग़लती बड़ी नहीं थी, न्यायाधीश ने किसी कारण से मुझे दण्डित किया, कनूनन नहीं।" इस प्रकार अपने-अपने सुख पर दृष्टि रखने के कारण मर्य-प्रभाव रहते मर्यादा के प्रति कोई सद्भाव नहीं होता है।

क्योंकि सर्वांगीण दूरदृष्टि का कोई महत्त्व मर्य संस्कृति में नहीं रहता इसलिये तात्कालिक और केवल अपने लाभ के लोभ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से पाखण्डी बनना सहज हो जाता है। पहले लाभार्थ पाखण्ड (hypocracy for profit) प्रारंभ होता है पर धीरे-धीरे जब सर्वत्र पाखण्ड फैल जाता है तब अकेले पाखण्ड से लाभ नहीं हो पाता अतः शक्ति का, बल का प्रयोग करने लगते हैं। गुण्डों का अत्यंत सुव्यवस्थित (organized crime) समूह बन जाता है, गुण्डा-गर्दी उनका धन्धा (crime industry) हो जाता है। यों बढ़ते-बढ़ते सबका सबसे लड़ाई-झगड़ा होने की परिस्थिति बन जाती है। अच्छाई का हो या बुराई का, संसार में चक्र चलता है, एक जैसी गति नहीं रहती और न हमेशा अच्छाई ज़्यादा समय चल पाती है, न बुराई। मानव इतिहास सीध में गति (linear motion) का साक्षी नहीं है, चक्रगति (cyclic motion) ही यहाँ देखी गयी है। व्यापारी और कर-अधिकारी घूस के आदान-प्रदान का व्यवहार सुख-सुविधा के लिये प्रारंभ करते हैं किन्तु शीघ्र ही वह भयावह रूप लेकर दोनों के दुःख का कारण बन जाता है। जो भी प्रवृत्ति सामान्य व्यवस्था के विरोध में खड़ी होती है उसकी प्रतिक्रिया (reaction) समाज में अवश्य प्रकट हो जाती है।

सांसारिक सुख भी अत्यधिक हो जाये तो जीव को परेशान कर देता है ! जैसे अधिक पका फल स्वादहीन हो जाता है ऐसे ऐन्द्रिय भोग बहुत ज़्यादा बढ़ जाने पर नीरस लगने लगते हैं। हर सुविधा से पूर्णतः संपन्न, धन- संपर्क-बलादि की दृष्टि से 'बड़े आदमी' भी स्वयं अपने मन से उचाट रहते हैं। निरपेक्षता (absolutism) में सबको निगलने की सामर्थ्य होती है ! अपने सुख के लिये आपने सबको ठगा तो अब सब आपको ठगेंगे ! उस परिस्थिति में जी उचाट हो जाता है। सन् उन्तीस-तीस में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक आदमी का खून हो गया था तो पूरे दिल्ली शहर में तहलका मच गया था, सारी जनता घबरा गयी थी कि इतना बुरा काम शहरी समाज में हो कैसे गया ! आज पितृवध, मातृवध, भ्रातृवध ा सब रोज़ हो रहे हैं, शहरी जीवन का मानो वह अंग बनता जा रहा है। जिस सुरक्षा (security) के प्रति लोग आश्वस्त रहते थे, शहर में स्वयं को सुरक्षित समझते थे, उसका लोप हो रहा है, वह आश्वासन (comfort of security) आज मन में नहीं है। दूसरे की हत्या से जो प्रारंभ हुआ वह आज बिना किसी भेद-भाव के सब पर छा गया, असुरक्षा की भावना या भय से सब त्रस्त हो रहे हैं।

अमर्यादितता का व्यवहार प्रारंभ करना सरल है किन्तु उसका प्रतिफल कितना भयावह होता है यह लोग समझना चाहते नहीं क्योंकि मर्यदृष्टि इहलौकिक से भी संकुचित होकर तात्कालिक में रुक जाये यह स्वाभाविक है। आज सरकारें भी अपने वायदों से मुकरने लगी हैं ! राजाओं से राज्य लेते समय दिये गये वचनों से पीछे हटने में सरकार को लज्जा नहीं आती। यह मर्य संस्कृति है, किन्तु याद रखना चाहिये कि वह दिन दूर नहीं जब सरकार से किये वायदों, अनुबंधों से लोग भी ऐसे ही मुकरने लगेंगे ! उस अव्यवस्था में सरकार तक की सुरक्षा (security of position) खतरे में पड़ जायेगी। गाँधी जी का चर्खा कातना कोई टोटका (ritual) नहीं था वरन् आत्मनिर्भरता की संस्कृति का प्रतीक था किन्तु आज वह टोटका बन गया है: अग्रिम प्रधानमंत्री बनने के प्रत्याशी घबराहट महसूस करते हैं तो आज चर्खा कात रहे हैं ! मानो उससे निश्चित हो जायेगा कि वे सच्चे गाँधीवादी हैं, प्रधानमंत्री बनने योग्य हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रूस का हाल का इतिहास बताता है कि वहाँ लोगों में सुरक्षितता की भावना अत्यंत घट गयी थी। स्टालिन को शासन से कोई हटा नहीं सकता था और उसके निकटवर्ती नेता व अधिकारी भी स्वयं को असुरक्षित (insecure) महसूस करने लगे थे। ख्रुश्चेव ने वह स्थिति अनुभव की तो वह परिवर्तन भी ला रहा है क्योंकि समाज के नेता के मानस-परिवर्तन में सामाजिक कारण (sociological reasons) भी होते हैं। आज भारत में भी व्यक्तिवादिता अतः मर्यादाहीनता बढ़ रही है जिसका प्रभाव सामाजिक असुरक्षा के रूप में प्रकट होता जा रहा है। आवश्यकता है अभी से सावधानी की; अन्यत्र जो क्रम अशान्ति का देखा गया है वह हमारे यहाँ विपरीत नहीं हो जायेगा ! जिन कारणों से कहीं भी अशांति आती है उनसे यहाँ भी अशांति ही आयेगी। समय रहते, जब तक अव्यवस्था नियन्त्रण से बाहर नहीं हो जाती तब तक यदि सावधान हो गये, मर्य संस्कृति के खोखलेपन को पहचान गये और मर्यादा-पालन की ओर मुड़ गये तब तो भारत की परिस्थिति शांतिमय रह सकती है अन्यथा उसकी संभावना नहीं है। वैयक्तिक और सामाजिक मानस में यह चेतना आना जरूरी है कि मर्यदृष्टि आत्मघाती होने से स्थायी सुख-शान्ति प्रदान करने में असमर्थ है। सुख-शांति दिव्यदृष्टि से ही संभव है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सातवाँ प्रवचन

सहयोग से उन्नति

वेद के सिद्धांत की विलक्षण चिन्तनधारा के अनुसार मानव-समाज के सांस्कृतिक अध्ययन से तीन प्रकार की पद्धतियाँ समझ आयीं जिनमें नर्य और मर्य की हेयता और दिव्य की उपादेयता का प्रतिपादन किया। नर्य-मर्य का समन्वय दिव्य है। समन्वय केवल मिला देने का नाम नहीं है वरन् दोनों के अनिष्ट अंश छोड़कर अभीष्ट अंशों के सामंजस्य का नाम है। व्यवस्था चाहे सामाजिक हो, उसका दार्शनिक आधार होता है। अब तक जिन तत्त्वों का प्रतिपादन करते आये हैं वह दिव्य संस्कृति को आधार मानकर ही किया। वैदिकों में भी दार्शनिक धरातल पर मतभेद रहता है। संप्रदाय-प्राप्त अनुभवानुसारी सिद्धांत ही अपनाया जा सकता है।

समाज-व्यक्ति के प्रश्न का दार्शनिक पहलू भी है। विद्वानों ने इसे दोनों तरह समझने की कोशिश की है : कुछ कहते हैं कि व्यक्तियों का समूह समाज है अतः व्यक्ति सत्य और समाज काल्पनिक है। अन्यों का मानना है कि समाज ही अपने व्यवहार-निर्वाह के लिये व्यक्ति का आकार लेता है अतः सत्य तो समाज है, व्यक्ति काल्पनिक है। समाजशास्त्री इन दृष्टियों को व्यक्तिवाद (singula-rism) और समष्टिवाद (universalism) कहते हैं। एक के अनुसार समाज के संरक्षण के लिये व्यक्ति को नष्ट किया जाता है जबकि दूसरे के अनुसार व्यक्ति की कीमत पर समाज के लिये कुछ नहीं किया जा सकता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धागों से भिन्न धोती का अस्तित्व नहीं यह एक देखता है, धोती से अतिरिक्त धागे नहीं हैं यह दूसरा देखता है। समष्टिवादी समाज-परिवर्तन पर ज़ोर देता है, व्यक्ति का महत्त्व नहीं आँकता। व्यक्तिवादी व्यक्ति पर एकाग्र रहकर मानता है कि समाज पर उसका असर स्वतः आयेगा। वेदान्ताचार्यों में भी इस सन्दर्भ में दृष्टिभेद मिलता है : ब्रह्मसूत्रभाष्य के एक व्याख्याता भामतीकार वाचस्पति मिश्र हैं जिनकी मान्यता का अनुसरण करें तो कह सकते हैं कि वे व्यक्ति को मानते हैं, समाज को नहीं। वेदान्त-परंपरा में एक अन्य प्रधान आचार्य सायण हुए हैं। पंचदशी में व्यक्त उनकी दृष्टि के अनुसार कहा जा सकता है कि उन्होंने समाज को सच्चा माना, व्यक्ति का अस्तित्व समाज के घटक रूप से ही माना। इसी प्रकार अन्यान्य चिन्तकों के विचारों में गौण-प्राधान्यभेद लक्षित किया जा सकता है।

एकांत व्यक्तिवाद और एकांत समष्टिवाद दोनों दृष्टियों में कुछ त्रुटियाँ हैं। प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति समाज पर निर्भर है। विदेश से वे लोग भारत नहीं आते जो अनुसंधानादि विकास कर सकते हैं यह कहकर कि यहाँ कार्य फैलाने का अवसर (scope) नहीं है, पिछड़े समाज में उन्नति का अवसर नहीं मिलता। अतः व्यक्ति तभी विकास कर पाता है जब अनुकूल, उन्नतिशील समाज उपलब्ध हो, उसकी प्रगति समाज पर निर्भर है। दूसरी तरफ, अनेकों का कहना रहता है कि महान् व्यक्ति सारे समाज को बदल सकते हैं। रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि व्यक्ति की लंबी परछाईं से अतिरिक्त संस्था कुछ नहीं होती ! (Institution is nothing but a long shadow of an individual)। अतः सामजरूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संस्था (institution) ही व्यक्ति पर निर्भर है। किन्तु व्यावहारिक धरातल पर उतरें तो मानना पड़ता है कि समाज व व्यक्ति दोनों साथ चलते हैं, दोनों के अवश्य-स्वीकार्य महत्त्व हैं, एक को भी नितांत गौण या प्रधान नहीं कह सकते। अतः दोनों के समन्वय की व्यवस्था (integrational system) ही कारगर हो सकती है। आचार्य पद्मपाद और सुरेश्वराचार्य ने इसी समन्वय को दृष्टि में रख किसी भी एक विचारधारा को प्रश्रय नहीं दिया, दोनों का समप्राधान्य द्योतित हो यह उनका अभिप्राय है।

व्यक्ति-समाज का संबंध अत्यंत घनिष्ठ है। व्यक्ति का शरीर तभी नीरोग रहकर ठीक कार्य करता है जब सारे अंग (organs) ठीक कार्य करें और उन सबके अधिष्ठाता का एक व्यक्तित्व (individuality) हो। यकृत खराब हो जाये तो विभिन्न रोग शरीर में आने लगते हैं। सारे शरीर से 'भिन्न' कोई सत्ता यकृत की है तभी वह खराब हुआ, असर भले ही अन्यत्र भी आया। सब अंगों में अभिमान रखने वाला मन यदि चिन्ता आदि से बिगड़ जाता है तो पेट, हृदय आदि सब अंगों पर असर पड़ जाता है अतः अधिष्ठाता से सब एक भी हैं तभी उसकी गड़बड़ी सर्वत्र असर दिखाती है। भूख नहीं लगती, पेट खराब है, इसका भी प्रभाव सारे शरीर पर पड़ेगा किन्तु क्रमशः—साक्षात् कुछ असर होंगे जिनसे विभिन्न शृंखलाओं द्वारा सर्वत्र प्रभाव पड़ेगा; जबकि मानसविकार से सर्वत्र साक्षात् असर हो जायेगा। इसलिये अंग अलग हैं, अंगी अलग है पर इनकी समन्वित व्यवस्था (integrated system) है। ऐसे ही व्यक्ति-समाज परस्पर निर्भर रहते हुए भी अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं, व्यक्ति समाज को तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समाज सारे व्यक्तियों को प्रभावित करता है।

दिव्य विचारधारा में व्यक्ति को समाज में लीन होना है, समाज को व्यक्ति के द्वारा प्रस्फुटित होना है। शासन-व्यवस्था के लिये चुनाव होते हैं। प्रत्याशी प्रायः किसी दल (party) के होते हैं, स्वतंत्र (independent) भी होते हैं। किन्तु दल वाला भी व्यक्ति तो है ही। अतः अनेक बार प्रश्न उठता है कि दल का महत्त्व है या व्यक्ति का ? आपने चुनावी अर्हाओं को माना तभी मतदान किया अतः नतीजे पर भी विचार करना पड़ेगा। आपने जिसे चुना उसके किये अच्छे-बुरे में आपका भी हिस्सा रहेगा। अमेरिका में एक दार्शनिक थे। वहाँ रिपब्लिकन और डेमोक्रेटिक दो ही प्रधान दल हैं, उन्हीं में से एक जीतता है उसी का प्रत्याशी राष्ट्रपति बनता है। सोशलिस्ट दल का नार्मन टामस भी उस वर्ष प्रत्याशी था। उन दार्शनिक सज्जन ने उसे ही मत दिया ! उनका तर्क था कि 'यह जीतेगा ही नहीं तो इसकी किसी ग़लती में मेरी भागीदारी भी नहीं रहेगी ! जीतने वाला चाहे जो हो, ग़लतियाँ करेगा ही, उनकी जिम्मेवारी से मैं बच गया। यदि मतदान न करता तो मेरी गलती होती क्योंकि नागरिक का वह फर्ज़ बनता है।' उन दार्शनिक की सोच से चाहे सहमति हो या न हो, इस तथ्य की तरफ दृष्टि तो जाती है कि जिसे आप चुनते हैं उसके किये में आपका भी हिस्सा बन जाता है। कोई अच्छा व्यक्ति स्वतंत्र प्रत्याशी हो तो उसे मत न देकर आप दलीय प्रत्याशी (party candidate) को मत देते हैं; अर्थात् आपने व्यक्ति से दल को प्रधान माना। इससे आप व्यक्ति-समाज के संदर्भ में समष्टिवादी सिद्ध हुए। यदि आपने दलों की चिन्ता बिना किये अच्छे आदमी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को मत दिया तो आप व्यक्तिवादी हैं। किन्तु क्योंकि इन विषयों में हम साफ-साफ विचारपूर्वक समझे हुए नहीं हैं इसलिये हम व्यवहार में कभी समष्टिवादी तो कभी व्यष्टिवादी बनते रहते हैं, एकरूप प्रवृत्ति नहीं कर पाते। राष्ट्र के लिये शहीद होना समष्टिवादिता है, अपने सिद्धांत के लिये शहीद होना व्यष्टिवादिता है। अन्य भी व्यवहारों में सोचें तो इन दोनों दृष्टियों का भेद पता चलता है लेकिन जीवन की वास्तविकता में दोनों का समन्वय ही कार्यकारी रहता है। कारण स्पष्ट ही है कि व्यक्ति-समाज एक अन्तर्ग्रथित अखण्ड (integrated whole) है जिसमें व्यक्ति ऐसा खण्ड (incident) है जो समाज पर प्रभाव डालता है।

नर्य-मर्य की समन्वयात्मक दिव्य दृष्टि में आदर्श के लिये कार्य करते हुए सुख की प्राप्ति संभव है। आदर्श और सुख, दोनों में से एक भी सर्वथा छोड़ते हैं तो खतरा हो जाता है। नर्य व मर्य एक-एक को ही रखते हैं, समन्वय नहीं अपनाते जब कि दिव्य में आदर्शों और सुख की समन्वित उपलब्धि है। स्वर्ग को भूमि पर उतारना दिव्य दृष्टि है ! "यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह", जो यहाँ है वह वहाँ है, जो वहाँ है वह यहाँ है—स्वर्ग और इस लोक में जो भेद देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को जाता है। अतः भेददृष्टि को प्रश्रय नहीं देने वाली वैदिक दिव्य विचारधारा में समन्वय रहता है।

ज्ञानशक्ति (cognition), क्रियाशक्ति (conation) और इच्छाशक्ति (volition) को समन्वित करना अभीष्ट है। मर्य का आधार क्रिया, नर्य का ज्ञान और दिव्य का इच्छा है। ज्ञान और क्रिया का भी आधार इच्छा है। जानते हैं, चाहते हैं, करते हैं—इस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्रम में इच्छा (motive) का दोनों से—जानने और करने से—सम्बंध है। नर्य संस्कृति में तर्क (logic), सौंदर्यशास्त्र (aesthetics), दर्शन (philosophy) आदि में विकास होता है पर क्रिया का ह्रास होता है। मर्य में क्रिया की बढोत्तरी परंतु तर्क, दर्शन आदि का ह्रास होता है। दिव्य संस्कृति में ज़ोर इच्छा पर है। जो समाज इच्छा पर ज़ोर देगा वह नर्य और मर्य में संशोधन करेगा। एक आदमी भोजन करने बैठा तो मक्खी परेशान करने लगी, खुले में आया तो मच्छर काटने लगे, जल में घुसा तो मछलियाँ थीं ! उसने सोचा "कहीं चैन नहीं तो मर जाना चाहिये"। वह चिता के लिये लकड़ियाँ इकट्ठी करने लगा, तब तक उधर से कोई गुज़रा, पूछा 'क्या कर रहे हो ?' उसने बताया 'जलकर मरूँगा।' राहगीर ने कहा "जलोगे तो हड्डी, बाल, मांस जलने की दुर्गंध फैलेगी, क्यों अमंगल बढ़ाते हो ?" अब बेचारा मर भी नहीं सकता ! संसार में अमंगल देखने लगो तो मंगल कहाँ दीखेगा ! भगवान् शंकर श्मशान में रहते हैं अमंगल के स्थल को मंगलमय करने के लिये। संसार को ससंकल्प स्वीकारना (wilful acceptance) उदात्त आदर्श है, अपना पिण्ड छुड़ाने को उससे भागना नहीं। भागवतकार ने भी इस प्रवृत्ति से सावधान किया है कि मुमुक्षु होकर एकान्त वन में विचरने की प्रायिक प्रवृत्ति को अभीष्ट नहीं समझ लेना चाहिये। समष्टि को अपना ही व्यापक रूप जानेंगे तभी उस पलायन से बच सकते हैं। संसार को अस्वीकार (rejection) करने की कोशिश इच्छाशक्ति की कमी से होती है। मरने के बाद मोक्ष हो या न हो, संसार में वैसा व्यक्ति रोता रहेगा, गुज़ारा ही चला पायेगा प्रसन्नता से उत्साह से जीवन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में उज्ज्वलता नहीं ला पायेगा। जो संसार को केवल स्वीकार ही करता है उस पर भी संसार बोझ बना रहेगा, पारतन्त्र्य की पीडा रहेगी। संसार को ससंकल्प स्वीकारने वाले में कुछ उदात्त करने की दृढ इच्छा होती है, स्वातन्त्र्यानुभूति, आदर्श की प्रेरणा और उस ओर बढ़ने के प्रयास में सन्तोष का सुख होता है। इस प्रकर तीन दृष्टियाँ जीवन की बनती हैं—एक में संसार से बचने का भाव है, दूसरी में संसार का सामना करने का और तीसरी में संसार को किसी आदर्श की ओर ले चलने का भाव है।

श्रुति कहती है कि संसार प्रकट होने से पूर्व अकेला सद्ब्रह्म था, अन्य कुछ नहीं था। उसे अकेले में अच्छा नहीं लगा तब उसने दूसरे की इच्छा की, दूसरे को उत्पन्न किया। अकेले में रमण नहीं होता, अच्छा नहीं लगता इसलिये ईश्वर सृष्टि करता है। हम भी उसी ईश्वर के पुत्र हैं। हम संसार में आ नहीं पड़े हैं, उसका निर्माण किया है अपने आनंद के लिये ! कविता मर्यदृष्टि से भी लिखी जाती है परंतु पैसे आदि के लिये। दिव्य दृष्टि में आनंद के लिये, अन्तःप्रेरणा से स्वयं को प्रकट करने के लिये कविता रचते हैं। संसार दिव्य कविता है। स्वयं को प्रकट न करे तो कवि पागल हो जायेगा! साधन न हों, प्रेरणा तीव्र हो तो रेत में ही कलाकार चित्र बना देता है। अभिव्यक्ति की अभिलाषा जीव में स्वाभाविक है। एकाकी रमण न हो सकने से अरति मिटाने के लिये प्रपंचरचना है। समाज का निर्माण आनंदपूर्वक रमण के लिये है, हमें भगवान् का सहयोगी बनकर दिव्य आनंद प्राप्त करना है।

जिस परमेश्वर ने सृष्टि का निर्माण किया उस मूल तत्त्व में शिव-शक्ति का सामरस्य है। दोनों ओर की अति (extremes)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाली संस्कृतियों का उत्थान-पतन होता है। हमारी संस्कृति में आज तक मध्य बिन्दु पर दृष्टि रही है। इसे किसी और देश ने, किसी अन्य संस्कृति ने नहीं अपनाया। शिव-शक्ति का सामरस्य ही मध्यबिन्दु है। सब कुछ करके भी कुछ न करना भगवान् का दिव्य संदेश है। कर्म नहीं तो अकर्म भी नहीं करना है ! कामना से कर्म नहीं करना, संकल्प से सब कुछ करके भी 'किया' यह अभिमान नहीं रखना है। माता ने तुम्हें बड़ा किया, तुम्हारी टट्टी तक धोयी, पर उसके हृदय में यह भाव नहीं कि "मैंने इसके लिये कुछ किया"। वह तो चाहती है कि इससे भी अधिक करती! सब करके भी उसे लगता है "मैंने कुछ नहीं किया"। यह है कर्तृत्व का अभिमान न होना। हमारे लिये समाज असीम उपकार करता है, उसके प्रति कृतज्ञ न होकर हमसे यदि थोड़ा-बहुत कुछ सार्वजनिक हित हो जाये तो हम गर्वित हो जाते हैं ! रामचंद्र जी को अभिषेक की सूचना मिली तो उनकी सहज प्रतिक्रिया थी कि "सभी भाई साथ पैदा हुए हैं तो मुझे ही क्यों राजा बनाना ?" यह दिव्यदृष्टि है। मर्य संस्कृति में कुछ न करके भी सब कुछ करने का अभिमान रखना स्वाभाविक रहता है। आज़ादी के लिये असंख्य देशप्रेमियों ने अपने जीवनों की आहुति दी पर आज लोग खुद को श्रेय देते हैं कि 'हम आज़ादी लाये'! अनेक व्यक्ति मुँह से नहीं भी कहते तो मन में यही भाव रखते हैं।

दिव्य सन्देश कहता है कि कर्म मत छोड़ो, उसमें जो फालतू का मेरा-पन रखा है वह त्यागने योग्य है, "मैं कर्ता हूँ, मेरा कर्म है" यह मत समझो। शिव-शक्ति की सामरस्यावस्था में न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतियोग है, न सहयोग। वास्तव में प्रतियोगी हमारा कोई है ही नहीं। पड़ौसी दुकानदार लाख रुपये भी कमाये पर तुमसे तो नहीं छीनता, उसे तुम प्रतियोगी कैसे मानते हो ? उसने कार्य किया, तुम भी करो, कमाओ। तुम दोनों एक ही समाज के अंग हो अतः सामाजिक दृष्टि से उसकी कमाई के कारण तुम्हारी भी बढोत्तरी ही हुई ! जैसे चाहे जिस भाई की कमाई से हो, घर की बढोत्तरी होने पर सभी भाईयों को लाभ होता है वैसे चाहे जिसकी मेहनत से हो समाज के उत्कर्ष का लाभ सभी को मिलता है। अतः तुम्हें लाभान्वित करने वाला तुम्हारा प्रतियोगी कैसे हुआ ! जैसे यकृत की मज़बूती से हृदय को भी बल मिलता है, इनमें प्रतियोगिता नहीं है क्योंकि शरीर एक है, ऐसे समाज एक होने से व्यक्तियों में प्रतियोगिता नहीं है।

एकता में दुर्बल लाभान्वित रहता है। एक जाल में सौ कबूतर फँसें, दो कमज़ोर हों, अट्ठानबे जोर लगाकर इकट्ठे उड़ें तो जाल समेत वहाँ से बच जायेंगे पर साथ में वे दोनों कमज़ोर कबूतर भी बचेंगे ही। माँ को दूध नहीं उतरता तो धाय रखी जाती है। उस धाय को वेतन से अतिरिक्त भोजन, बिछौना, वाहन आदि सब उत्तम मिल जाते हैं क्योंकि जो व्यवस्था बच्चे के लिये की जाती है उसका उपयोग धाय को भी करना ही है। प्रबल करे तो और प्रबल के लिये किया जाये तो, दोनों हालतों में साथ वाले दुर्बल को भी लाभ मिलता है। सारे समाज की उन्नति होगी तो क्या हम ही पीछे रहेंगे ! मलेरिया मिटाने के लिये दवाई सड़कों पर, नालों में छिड़कते हैं पर मच्छर आपके भी घर में समाप्त हो जाते हैं, रोग से आप भी बच जाते हैं। इस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विस्तृत दृष्टि को समझने पर प्रतियोगिता का द्वेष नहीं रहेगा, सबकी उन्नति से प्रसन्नता ही होगी।

"जब दूसरों के करने से मेरा लाभ हो रहा है और दूसरे कर ही रहे हैं तो मैं क्यों करूँ ?"—यह अकर्म में संग दिव्य दृष्टिकोण में नहीं है। प्रतियोगिता का भाव हटने पर प्रमाद का प्रवेश संभव होता है, उसे रोकने के लिये इच्छा पर, उद्दाम उत्साह पर, जीवकी ईश्वरात्मता पर बल दिया गया है। प्रसिद्ध किस्सा है कि राजा ने एक कुण्ड दूध से भरने के लिये जनता से कहा पर सबको गुप-चुप दूध डालने की अनुमति दे दी। सभी ने सोचा "बाकी लोग दूध डालेंगे ही, मैं अगर लोटा-भर पानी ही डालूँ तो क्या पता चलेगा !" अंत में देखा तो कुण्ड में केवल पानी था ! आज भी यही हो रहा है—पंच-वर्षीय योजनाएँ बनती हैं पर सब सोचते हैं कि उन्हें दूसरे पूरा करेंगे अतः योजना कभी सफल नहीं हो पाती। व्यक्ति को प्रेरित (drive) करने वाला कोई उद्देश्य (motive) न हो तो वह कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं दे पाता। नर्य कर्तव्यपूर्तिका हृदयहीन बोझ ढोकर प्रेरित होता है, मर्य स्पर्धा (competition) से प्रेरित होता है किन्तु दिव्य का प्रेरणास्रोत सर्वकर्ता सर्वशक्तिमान् साक्षात् परमेश्वर है जो हमेशा मानव हृदय में सन्निहित रहकर "अनन्तता की ओर बढ़ने में ही स्वयं की पूर्णता है" इस नित्य उद्देश्य से उसे सनातन प्रेरणा देता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आठवाँ प्रवचन

स्थिर और अस्थिर

मानव और समाज के सन्दर्भ में इहलोक और परलोक का संगठित दृष्टिकोण दिव्य संस्कृति की विशेषता है। व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्ध को समझने के लिये विशिष्ट दृष्टिकोण अपेक्षित होता है। व्यक्ति के परिवर्तन और स्थायिता (being and becoming) दोनों का अनुभव है। स्थायिता या सत्ता को प्रध ान मानने वाले प्रतीति या परिवर्तन को गौण समझते हैं जबकि दूसरों का कहना है कि परिवर्तन ही प्रधान है, स्थिरता तो भ्रम है ! वैज्ञानिक विचारधाराएँ इन दोनों में से किसी दृष्टि को लेकर प्रवृत्त होती हैं। स्थायिता और अस्थायिता (eternalistic, temporalistic) की दृष्टियाँ साधारण स्तर पर प्रचलित हैं। दिव्य दृष्टि परिवर्तन को अपरिवर्तन के आधार पर स्थित मानती है। बौद्ध दर्शन परिवर्तनीय पर ज़ोर देते हैं। दीपशिखा का निरन्तर परिवर्तन हो रहा है, अखण्ड ज्योति या ज्योति की अखण्डता भ्रम है—यह उनका उदाहरण है। क्षण-क्षण में परिवर्तन है इस पर बौद्ध विचारधारा का बल है। इसी से वह क्षणिक विज्ञान तक पहुँच जाता है कि विज्ञान, अनुभव केवल एक क्षण होता है, आगे-पीछे वह विज्ञान नहीं रहता, अन्य कोई क्षणिक विज्ञान भले ही हो। क्षणभेद से सर्वथा नाश न मानने वाले कुछ दार्शनिक परिवर्तन तो स्वीकारते हैं कि पदार्थ के कुछ अंगों में बदलाव आता है किन्तु वे मानते हैं कि कुछ अंगों में बदलाव आने से वह पदार्थ रहा ही नहीं ! अर्थात् अनुगत (being) की सत्ता नहीं रहेगी यह उनका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभिप्राय है। वैदिक दृष्टि है कि अपरिवर्तित रहने वाला ही परिवर्तन को जानता है। एवं च परिवर्तन निर्भर रहता है अपरिवर्तित पर। यही दोनों का समन्वय है।

गति (speed) का निर्धारण गतिमान् से अन्य किसी की अपेक्षा से होता है यह सभी का अनुभव है। स्थिर वृक्ष की अपेक्षा से जो गाड़ी बीस मील फी घंटे की रफ्तार से चल रही है वही उसी दिशा में पंद्रह मील की रफ्तार से चलने वाली दूसरी गाड़ी की अपेक्षा से पाँच मील की रफ्तार वाली रह जाती है। इसी प्रकार सापेक्षतावादी दिक् और काल को सापेक्ष अतः अस्थायी मानने लगे हैं पर सापेक्षता को दृष्टि में न रखें तो दिक् व काल अपरिवर्तनीय माने जाते हैं। क्योंकि सारा अनुभव परिवर्तन का है इसलिये स्थायी (being) को समझने में दिक्कत रहती है। अपरिवर्तन को बुद्धि से समझने के लिये, उसे सिद्ध करने के लिये भी परिवर्तन की आवश्यकता है। व्यवस्थित समन्वय (organic reconciliation) करने पर परिवर्तन (becoming) के आधार पर अपरिवर्तन (being) को सिद्ध किया जा सकता है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में, परिवर्तन में मैं एक जैसा रहा—इस तरह मेरा अपरिवर्तन सिद्ध होता है। तभी आत्मा को स्थिर मानते हैं। जाग्रत् आदि बदल रहे हैं तब आत्मा की स्थायिता सिद्ध हुई। अचल की सिद्धि जैसे चलके आधार पर वैसे चल पदार्थ की सिद्धि के लिये कोई अपरिवर्तनीय पदार्थ मानना पड़ता है। इससे अन्योन्याश्रय नहीं आता क्योंकि अपरिवर्तनीय पदार्थ स्वरूपतः चल वस्तु पर आश्रित नहीं, केवल उसे अपरिवर्तित समझा जाये इसके लिये परिवर्तन को दृष्टि में रखना आवश्यक होता है और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिवर्तन तो स्वरूपतः ही स्थायी पर आश्रित है।

समाज का घटक व्यक्ति जब परिवर्तित होता है तब समाज भी बदलता ही है, निरपेक्ष स्थिरता या कूटस्थता समाज में नहीं मिल सकती। व्यक्ति की अपेक्षा तो समाज को स्थिर कह सकते हैं पर स्वयं उसे एकान्ततः स्थिर कहना नहीं बनता। उन्नीसवीं शताब्दी से प्रगतिवाद की एक धारणा सभी चीज़ों को आगे बढ़ता मानती है। जब सब आगे जा रहे हैं तब 'आगे' जाने की सिद्धि कैसे होगी, किससे आगे—यह तो बताना पड़ेगा अतः उसे स्थिर मानकर ही उससे आगे कोई गया यह सिद्ध होगा। केवल ऐतिहासिक दृष्टि (historical approach) रखने वाले स्थिर को नहीं देखना चाहते, परिवर्तन की ओट में जो अपरिवर्तन है उसे भूलना चाहते हैं। इसका नतीजा है कि सदा आशंका (apprehension) की स्थिति रहती है कि न जाने कल क्या होगा ! आज राजनीति ही नहीं विज्ञान तक में कोई सिद्धांत स्थिर नहीं रह पाता ! सैद्धान्तिक कल्पना (theoretical supposition), लगभगवाद (approximation), आपात-स्वीकार (hypothesis) आदि की धारणायें विज्ञान में आदर पा रही हैं। ऐसा प्रतीत होने लगा है कि अव्यवस्थित से हमें ताल-मेल बैठाना पड़ रहा है (we are adjusting to maladjustment !)। इस सर्वथा अस्थायिता की दृष्टि के कारण मानव स्वयं को समाज का निर्माता न समझकर उसके पीछे टक्कर मार रहा है अर्थात् हर-एक को लगता है कि "समाज आगे निकल गया, अब मैं जैसे-तैसे उसके पीछे चलूँ"। परिवर्तित समाज के जब तक हम अनुरूप बन पाते हैं तब तक परिस्थिति फिर बदल जाती है ! आज तो कपड़ों तक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का रिवाज़ (fashion) तीन महीनों में बदल जाता है ! परिधानरीति तक में स्थिरता नहीं है क्योंकि कोई खुद को स्वतंत्र समझकर स्थिरता लाने की कोशिश नहीं करता वरन् यही सब माने बैठे हैं कि "रिवाज़ बदल गया तो हम क्या कर सकते हैं, हमें भी बदलना ही पड़ेगा", मानो रिवाज़ (fashion) कोई स्वतंत्र शक्तिमान् हो जिसके हम गुलाम हों ! नौकरी-पेशा व्यक्ति जब सेवानिवृत्त होता है तब स्फीति (inflation) में बढोतरी हो जाती है अर्थात् जिस परिस्थिति के लिये वह तैयार हुआ था वह अब बदल गयी, नयी स्थिति से उसे समन्वय करना पड़ता है। एक ही नहीं सभी क्षेत्रों में परिवर्तन की तीव्र गति हो गयी है क्योंकि प्रगतिवाद की आँधी ने स्थायी के मूल्य की ओर से बेखबर कर दिया है।

कुश्ती लड़ते हुए एक-दूसरे के दाँवों से जो पहलवान सीख लेता चलता है वही सफल हो पाता है। हम सुसमन्वित नहीं हो पा रहे (maladjustment) क्योंकि परिवर्तनशीलता का चश्मा पहनकर हम एकांगी बन गये हैं। उन्नीसवीं सदी में एक अर्थशास्त्री हुआ है मैलथ्यूज़ (Malthus) जिसने समझाया है कि उपलब्ध साधनों की अपेक्षा जनसंख्या की वृद्धि ज़्यादा होती है तब भुखमरी होने लगती है। इसी तरह जितनी तेज़ी से परिवर्तन (change) होता है उतनी हमारी सामंजस्य की सामर्थ्य (adaptability) नहीं बढ़ पाती तो हम असमन्वित (maladjusted) बने रहते हैं। परिवर्तन और सामंजस्य-सामर्थ्य का सन्तुलन बिगड़ने में कारण एकांगिता ही है। कुछ समय तक हमने परिवर्तन को भुला दिया, जो कुछ है वह स्थायी है, एकरूप है यह मानकर चलते रहे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिससे हमारी सामर्थ्य घट गयी, परिवर्तन तो अपनी गति से चलता ही रहा ! जैसे आज ऐतिहासिक दृष्टि परिवर्तन पर ही एकाग्र है ऐसे पहले अनैतिहासिकता अर्थात् स्थिरता की दृष्टि प्रधान हो गयी थी। पाँच सौ वर्षों के अन्तराल में होने वाले लोगों को भी समकालीन मान लिया जाता रहा ! बर्फी बनाने के लिये बेसन सेकते समय तेज़ी से चलाते न रहें तो गाँठें पड़ जाती हैं, इसी तरह परिवर्तन की अपेक्षा सामंजस्य-स्थापन की गति अत्यंत धीमी हो जाने से समाज में वर्ग (class) बन गये : दीर्घ काल तक एक ही सामंजस्य-प्रक्रिया बनी रहने से उसी के अनुकूल एक वर्ग तैयार हो गया और ऐसी विभिन्न प्रक्रियाओं के चलते वर्ग भी बढ़ते रहे। नौकरों की और मालिकों की मानसिकताएँ ही अलग हो गयीं मानो दोनों एक समाज के अंग न होकर स्वतंत्र इकाइयाँ हों ! नियोजक (employer) और नियोजित (employed) में झगड़ा है क्योंकि दोनों को मिलाने वाले नियोजन (employment) पर दोनों की दृष्टि नहीं है ! नियोजक सोचता है मशीनें बढ़ाकर मज़दूर घटा लें और मज़दूर की दृष्टि मज़दूरी बढ़वाने तक ही रह जाती है, नियोजन बना रहे, विकसित हो इसके लिये किसी का प्रयत्न नहीं है।

अस्थायिता की मानसिकता (temporalistic mentality) के चलते धीरे-धीरे हम 'घड़ी संस्कृति' में पहुँच गये हैं। अब हमें घड़ी सुलाती है, नींद नहीं। घड़ी खाना खिलाती है, भूख नहीं। पन्द्रहवीं सदी से पूर्व जब तक सर्वसुलभ घड़ियाँ नहीं थीं तब तक सूर्य-चन्द्र के प्राकृतिक समय में हमारा जीवन चलता था। आज हमें घड़ी से आठ घंटे सोना पड़ता है। हमारे लिये समय की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यान्त्रिक गति (mechanical) हो गयी है। मानसिक या भावनात्मक (psychological) समय को हम भूल गये हैं। यान्त्रिक पाँच मिनट मानसिक एक घण्टा हो सकता है, एक घण्टा भी पाँच मिनट हो सकते हैं। यांत्रिक को प्रधान मानते-मानते अन्य स्तर के काल को हम महत्त्व ही नहीं दे पा रहे, कदाचित् यान्त्रिक को ही सत्य और अन्यों को असत्य ही मानते हों ! जीवन के अनेक स्तर हैं, 'अधिकरण' हैं, उनके अनुसार काल आदि का भी स्तर बदलता है, उसे अविचार से नकारने मात्र से कोई लाभ नहीं। व्यवहार में घड़ियों का प्रचलन बढ़ा तो पहले आवश्यक कार्यों के लिये, जैसे कार्यालय जाना हुआ तो घड़ी देख लेते थे किन्तु ध ीरे-धीरे घड़ी देखने की ज़रूरत इतनी बढ़ गयी कि हर व्यक्ति यांत्रिक समय के प्रति सचेत (time-conscious) रहता है। आज यांत्रिक या भौतिक, अतिशीघ्र बदलने वाले (temporal) समय पर सबका ध्यान है। किसी समय में नागार्जुन इत्यादि क्षणिक विज्ञानवादियों ने इसी ओर इतना ध्यान दिया कि वे परिवर्तन (becoming) के प्रभाव में स्थायी (being) को मानने को ही तैयार न रहे ! यों एकांगी होना, परिवर्तनशीलता मात्र पर केंद्रित रहना नाश का हेतु बनता है। जैसे केवल अपरिवर्तनशीलता पर केंद्रित रहना प्रमादी बनाकर नाश का हेतु होता है। अपरिवर्तन की एकांगिता से व्यक्ति और समाज स्वर्ग के स्वप्न में खोया रहता है, स्थायी स्वर्ग ही उसे आकृष्ट करता है।

परिवर्तन-अपरिवर्तन में ऐसे समन्वय (organic unity) को देखना है जो मनमानी (arbitrary) व्यवस्था पर निर्भर नहीं वरन् शरीर में अंगों के समन्वय की तरह है : हृदय, यकृत, फेफड़े, गुर्दे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आदि सब केवल इकट्ठे रख देने से, तरतीब से सजा देने से शरीर नहीं बन जाता। इनका आपसी मेलन विशिष्ट ढंग से हो—जो ढंग हमें तर्कसंगत समझ आये या न आये—तब ये मिलकर शरीर बनते हैं और उस शरीररूप में इनकी एकता है अर्थात् शरीराकार ले लेने पर इन सबको 'एक शरीर' समझा जाता है। इसी तरह परिवर्तन-अपरिवर्तन की एकता संसार के रूप में उपस्थित है, वे दोनों समन्वित हैं तब संसार है। इस समन्वय या एकता को समझने से ही संतुलित दृष्टि बन सकती है, एकांगिता दूर हो सकती है। स्थित (static) की स्थिरता और गत्वर (dynamic) की गतिशीलता दोनों को पहचानना विवेक है। परिवर्तन से सर्वथा असम्बद्ध तो वही है जो देश-काल से अतीत है, क्रिया से परे है।

नैयायिकों की, गौतम-दर्शन मानने वालों की एक दृष्टि है : वे प्रत्येक पदार्थ के अणु (atoms) मानते हैं और उन अणुओं को अपरिवर्तनशील मानते हैं पर उनके सम्बंधों में परिवर्तन स्वीकारते हैं। सम्बंध (relations) बदलते हैं, परमाणु वे ही रहते हैं ऐसी उनकी मान्यता है। पदार्थों में जो परिवर्तन मिलता है उसमें कारण है सम्बंधों का परिवर्तन। सांख्यवादी ने प्रकृति को स्थायी माना, परिवर्तन उसके गुणों के प्राबल्य-दौर्बल्य से समझाया। आज एक 'इकैक्ट्रोक्यूल' (electro-cule) का भी सिद्धांत है कि आधारभूत पदार्थ न शक्ति है, न परमाणु पर वह कभी शक्ति (electro) और कभी परमाणु (cule) के रूप में व्यवहार कर लेता है। वैज्ञानिक धनाणु-ऋणानु में एक को अपरिवर्तनशील मानते हैं। सांख्य की परिणामवाद की विचारधारा अब विज्ञान में आ रही है कि कार्य बीज में पूर्वनिहित है। सांख्य के अनुसार स्वगत भेदों वाली

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकृति गुण-परिवर्तन वाली है पर पुरुष, चेतन स्थिर है, निर्विकार है। एक ही तत्त्व अनेक आकार ग्रहण कर लेता है यह अणुवाद (atomic theory) सांख्य दृष्टि का ही रूप है। समाजशास्त्र (sociology) में भी ऐसे विचार हैं कि आधारभूत आत्माएँ या व्यक्ति (being) ही समाज बनते (becoming) हैं। सांख्य ने बदलने वाली (becoming) प्रकृति से पुरुष को (being) अलग हटा हुआ माना। चाहे जिस दर्शनानुसार देखें, स्थिर-चंचल (being, becoming) का वास्तविक द्वैत सामने आने पर व्यक्ति जब अपरिवर्तनशील माना जायेगा तब समाज दलित बनता जायेगा। भारत में आर्य-अनार्य ही दो 'देश' थे क्योंकि यही विभाजन किसी सिद्धांत पर, आदर्शों पर टिकता है। धीरे-धीरे शासक-व्यक्ति, राजा प्रधान होने लगा तो उसने अपने शासित क्षेत्र को पृथक् देश माना, आर्यदृष्टि, हिन्दूमात्र की एकता की दृष्टि भूल गये। छोटे देश भी स्वयं अपने में एक इकाई अतः व्यक्ति हो गये और स्वयं की ही प्रधानता मानने लगे। फल हुआ कि अपने-अपने कल्याण की ही सोचने लगे, आर्य देश के कल्याण का प्रयत्न अनावश्यक मानने लगे। इससे बिखराव, शक्तिक्षय, संघर्ष, द्वेष आदि ही बढ़े, संमिलित प्रयासों के अभाव में उन क्षेत्रों में हम पिछड़ते गये जिनमें विकास के लिये हमारे पास योग्यता थी। यों इस द्वैतदृष्टि से विनाश हो जाता है। अपरिवर्तित और परिवर्तनशील के द्वैत के दृष्टिकोण में ही एक मत है कि काल अपरिवर्तनीय तत्त्व है अतः अब कलियुग आ गया है तो समाज बिगड़ना ही है ! इस विचारधारा का आज प्रतिफल है कि लोग सुधरने का प्रयत्न ही व्यर्थ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मानने लगे क्योंकि जब काल को अपरिवर्तनीय ही रहना है और तदनुसार समाज को बिगड़ना ही है तब सुधार होना ही नहीं तो उसकी कोशिश क्यों करें ! बिगड़ने को ही स्वाभाविक मानना इस चिंतन की प्रतिक्रिया है।

वैदिक विचारधारा अद्वैत की है। पुरुष-प्रकृति, समाज-व्यक्ति दो तत्त्व तब होते जब समाज के बगैर व्यक्ति कहीं दीखता। व्यक्ति को उत्पन्न किया समाज ने, पालन-पोषण किया समाज ने। जहाँ एक से अधिक व्यक्ति हैं वहाँ समाज है। चाहे आदिवासियों में चले जाओ, उनके भी समाज हैं। अफ्रीका के वनवासी और हमारे भील भी हैं सामाजिक ही, उनके समाज अलग हैं। वेद कहता है कि स्थिर-अस्थिर (being-becoming) परस्पर स्वतंत्र नहीं मिलते। अतः इनके बारे में वेद ने समन्वित (integrated) दृष्टि रखी। श्रुति कहती है कि परम सत्य (supreme reality) आत्मतत्त्व निष्क्रिय है लेकिन मन से भी तेज़ है ! "अनेजद् एकं मनसो जवीयः"। यह गति और स्थिरता का विलक्षण समन्वय है जिसमें दोनों की सत्ता एक साथ है। प्रलय के समय भी आत्मतत्त्व एकांत निष्क्रिय नहीं होता क्योंकि समस्त क्रियाओं को अपने गर्भ में लिये रहता है। आप भी चलते हुए स्थिर रहते हैं ! रेल में 'बैठे-बैठे' ही दिल्ली से कलकत्ते तक 'चले' जाते हैं; पृथ्वी पर भी तो इसी तरह 'स्थिर' रहते हैं ! अतः स्थिति-गति का समन्वय ही है। व्हाइट हैड (Whitehead) एक गणितज्ञ व दार्शनिक हुए हैं। वे दो 'स्थिर' बिन्दुओं के बीच परिवर्तन को गति बताते हैं। चाहे जितना कोई परिवर्तन (becoming) को महत्त्व दे पर स्थायी (being) को मानना ही पड़ता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है जिससे इनका अद्वैत ही स्पष्ट होता है। गतिहीनता के बगैर गति नहीं निकल सकती।

वैदिक दृष्टि क्रमिक वास्तविकता (gradation of reality) को स्थान देती है। इसे कोई काल्पनिक भी कह सकता है पर हमारा दर्शन साधक के कल्याण के लिये है अतः साधक की योग्यता से वास्तविकता उसे हृदयग्राही हो यह ज़्यादा ज़रूरी समझा गया बजाय केवल यथातथता के। अतः हमारे लिये सिद्ध और साध्य (being, becoming) का समन्वय ज़रूरी है और वह इनके अद्वैत से ही संभव है। काल को ही लें : काल कहाँ से आया ? काल में बदलाव होने से उसका उत्स बदलाव-रहित होगा। अतः प्रश्न बनता है कि वह तत्त्व (being) 'कब' काल (becoming) बना ? 'कब'—यह काल के लिये ही शब्द है। यदि काल को ही निर्गति (being) मानें तो भी प्रश्न बनेगा कि वह 'कब', किस 'काल' में सगति (becoming) बना ? दृष्टिभेद से समझें तभी ऐसी समस्याओं का हल होता है और तब वस्तु में द्वैत नहीं सिद्ध होता, दृष्टिरूप उपाधि से ही द्वैतव्यवहार गतार्थ हो जाता है। ग्रीस के ज़ीनो (Zeno) ने कुछ विरोधाभास (paradox) प्रकट किये हैं जिन पर विचार करने से दृष्टिभेद से व्यवस्था की प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती है। हम कोई पत्थर फैंकते हैं, वह दूर जा रहा है, परन्तु केवल प्रत्येक क्षण में देखें तो काल के दृष्टिकोण से वह स्थिर है ! क्षणान्तर की दृष्टि से देखें तभी उसमें गति है। दिक् की दृष्टि से गतिशील को भी काल की दृष्टि से गतिशून्य मानना पड़ता है। अतः दृष्टिभेद की व्यवस्था को काल्पनिक कहकर नहीं टाल सकते, उसकी व्यावहारिकता, उपयोगिता स्वीकारनी पड़ेगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रत्येक समाज की कुछ मान्यताएँ अपरिवर्तनीय हैं, उन्हें बदलने से फिर उसे 'वही समाज' नहीं कहा जा सकता। जिनका परिवर्तन अनुचित है उन्हें जब गति पकड़ लेती है, परिवर्तन घेर लेता है तब समाज छिन्न-भिन्न होने लगता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि हर बात में समाज स्थिर रखा जा सके ! लचीलेपन (adaptability) की कमी से आज से पचास वर्ष पूर्व समाज टूटने लगा। बदलते परिवेश के साथ जो परिष्कार सामाजिकता में आने चाहिये थे उन पर रुकावट हो गयी। बख़्तर-बंदी की (iron jacket) दृष्टि से जिसने मानो पारंपरिक समाज के भावी स्थायित्व के विषय में हार ही मान ली थी, यह स्वीकार लिया था कि भविष्य में यह समाज रह ही नहीं सकता अतः जो तात्कालिक रूप था उसे यथावत स्तब्ध (freez) करने की कोशिश की, जो उस पीढ़ी को भले ही सन्तुष्ट रख पायी हो यह समझने में कि "हमने परंपरानिर्वाह कर लिया" पर वस्तुतः परंपरा चलती रह पाती इसमें बहुत बड़ा प्रतिरोध ही उसने खड़ा किया। आवश्यकता के अनुसार विवेकपूर्ण परिवर्तन होता रहे तो मूलधारा बनी रहना सहज होता है, अचानक बड़ा भेद आये तो मूल ही पहचाना नहीं जा पाता। उस समय की मानसिकता के चलते समय के अनुसार हम परिवर्तित नहीं हो सके अतः एक नवीन-सी असमन्वित सामाजिकता पनप गयी जो परंपरा से विकसित न होने के कारण परंपरारक्षा में सर्वथा अशक्त रही। आज निरन्तर परिवर्तनशीलता देखने के कारण हम अपरिवर्तनशीलता को नहीं देख पाते। हममें स्थिरता के प्रति सद्भाव नहीं हो पाता। नैतिकता को भी हम स्थायी मानदण्डों वाला नहीं स्वीकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहे। व्यवस्था तक में हमने स्थिरता का वातावरण खो दिया है। आज सरकारी अनेक अधिकारी केवल इसीलिये कोई ठोस काम नहीं करते कि "न जाने कब स्थानान्तरण हो जाये"! अनेकों की हालत ऐसी होती है कि कहीं कार्यरत होने पर भी दसों जगह नौकरी के लिये अर्ज़ी दिये रहते हैं और "न जाने कहाँ बेहतर तनख्वाह वाला कार्य मिल जायेगा" इस अस्थिरता से जहाँ नियुक्त हैं वहाँ गंभीरता से कोई काम नहीं कर पाते। अनिश्चय, अस्थिरता के चलते सर्वत्र काम बिगड़ते ही हैं, इससे न व्यक्ति न समाज लाभ पाते हैं। किसी भी क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण उपलब्धि अत्यन्त स्थिर भाव से सतत प्रयास का ही फल होती है। अस्थिर भाव से थोड़ा-बहुत तो अनेक काम सीखे जा सकते हैं, थोड़ी-बहुत प्रगति की जा सकती है, किन्तु विशेषता कभी हासिल नहीं की जा सकती। जो 'पीर बावर्ची भिश्ती खर' बनेगा. वह इनमें से या अन्य भी किसी कार्य में पूरा माहिर नहीं हो पायेगा (jack of all trades master of none)। गतिशीलता को रोकना न संभव है न इष्ट, पर स्थिरता के अभाव को नहीं आने देना है तभी सामंजस्यपूर्ण विकास हो सकेगा।

इसका उपाय क्या है ? स्थिरता के सिद्धांत को समझना पड़ेगा। वास्तविक स्थिरता समझ सकें इसके लिये मन भी स्थिर करना पड़ेगा। इस प्रक्रिया में दार्शनिक विचारधारा का महत्त्वपूर्ण उपयोग है। जो मन दो मिनट स्थिर न रह सके वह स्थिर पदार्थ को कैसे देखेगा ! दैनंदिन छोटे-छोटे ऐसे अनेक कार्य हैं जो स्थिरता चाहते हैं : लिखने के लिये स्थिर रहना पड़ता है, दौड़ते हुए आप सुई में धागा नहीं डाल सकते। जब इन स्थूल कार्यों में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यह हाल है तो साधारण दृष्टि से स्पष्ट न हो पाने वाली स्थिरता को देखने-समझने में मन को प्रशिक्षण (training) चाहिये इसमें क्या कहना !

मन को शिक्षित करना है धर्म। धर्म की विशेष क्रियायें करना मन के प्रशिक्षण के लिये है। जैसे क ख ग घ पढ़े बिना भाषा, ग्रंथ आदि का अध्ययन संभव नहीं पर केवल बारहखड़ी सीख लेने को शिक्षित होना नहीं मानते इसी प्रकार जप, ध्यान आदि बारहखड़ी की, अक्षरज्ञान की जगह हैं, उनसे आगे बढ़ना पड़ेगा, चित्त को स्थिर के ग्रहण में लगाना पड़ेगा। आधुनिक काल में जब यह समझाते हैं तो लोग तुरन्त कह देते हैं "फिर शिवजी पर जल क्यों चढ़ायें ?" कर्मकाण्ड के ग्रन्थ ऊट-पटांग नहीं लिखे हुए हैं ! अविचारशील ही निर्णय कर सकता है कि धर्म बगैर सींग-पूँछ के है। धर्म के परम उद्देश्य के लिये जो अभ्यास चाहिये उसके लिये बाह्य कर्मकाण्ड (ritual) आवश्यक है पर उसी में ध र्म की परिसमाप्ति नहीं हो जाती। किन्तु यह सत्य है कि प्राचीनकाल में भी केवल कर्मकाण्ड को काफी माना जाने लगा। धर्म से वास्तविक लाभ मिले इसके लिये कर्मकाण्ड का तत्त्व समझना पड़ेगा। धर्म चित्त को स्थिर करने के लिये है। व्यक्तियों की योग्यताओं में, सामर्थ्य में भेद होने से शास्त्र में साधनों का भेद बताया गया है। उनका हमें अपने मनको प्रशिक्षित करने में विनियोग करना पड़ेगा तभी धर्म से हम जीवन जी सकेंगे, अन्यथा घण्टा-दो-घण्टा ही धर्म कर सकते हैं, बाकी समय अध र्म करते रहेंगे ! धार्मिक शिक्षा मिली 'पाप' की। कुछ क्रियाओं को पाप हम पुस्तक से समझ सकते हैं किन्तु उसका मूल भाव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समझकर प्रतिक्षण क्रिया के मौके पर यह परखना सीखना पड़ेगा कि यह पाप है या नहीं तभी हमारा धार्मिक विकास होगा। आज विद्यालयों की शिक्षाव्यवस्था में धर्म का उपयोग नहीं कर रहे। किसी कार्य को 'पाप' कहो तो आधुनिक सर्वत्र सापेक्षतावाद का सिद्धांत कहता है—'वैदिक दृष्टि से पाप है, ईसाई दृष्टि से नहीं' अतः बालक को यह निश्चय न होता है न कराने की कोशिश ही है कि वह कार्य पाप ही है। अगर वैदिक-ईसाई दोनों दृष्टियों से भी पाप हो फिर भी यह कौन जिम्मा ले सकता है कि किसी-न-किसी दृष्टि से वह ग़ैर पाप नहीं ही होगा ! इसलिये इस सापेक्षता दृष्टि से चित्त स्थिर नहीं, चंचल ही होता जाता है। मन से जिसे स्वीकारते हो वही मान्यता है। "मुझे किसी चीज़ को नहीं मानना" यह भी एक मान्यता ही है। इसे ही नास्तिक विचारधारा कहा जाता है। आज इस मान्यता को आदर देते हैं और 'मानना है' इस मान्यता को पिछड़ापन कहते हैं तो धीरे-धीरे 'न मानना' वाली मान्यता बढ़ रही है अतः अस्थिरता की वृद्धि स्वाभाविक है। केवल अभावात्मक दृष्टि युक्ति-संगत भी नहीं है क्योंकि जैसा कुमारिल भट्ट आदि ने प्रश्न उठाया, समझना पड़ेगा—किसका अभाव ? जिसका बताओगे वह भाव होना पड़ेगा; पहले भाव स्थापित करो तभी उसके अभाव की चर्चा सार्थक हो सकती है। 'न मानने' से पूर्व बताना होगा क्या न मानना। कुछ भी बिना माने तो सामान्य व्यवहार तक नहीं हो सकता, कोषादि में निर्धारित शब्दार्थ न मानो तो लिख-बोल नहीं सकते, लिपि-शब्द संबंध न मानो तो पढ़ भी नहीं सकते, 'बाँये रहना है' न मानो तो बिना ठोकर खाये सड़क पर चल नहीं सकते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

! सर्वत्र कुछ तो मानना ही पड़ेगा। अतः 'न माननावाद' एक असंभव कल्पना है जो मन-मानी मान्यताओं को बढ़ावा देकर अस्थिरता बढ़ाने में ही सक्षम है।

समाज और व्यक्ति उभय-सापेक्ष हैं, दोनों एक-दूसरे के लिये ज़रूरी हैं। इनमें समाज अपेक्षाकृत स्थायी तत्त्व है, व्यक्ति परिवर्तनशील तत्त्व है। व्यक्तियों के सामने जो आदर्श आता है वह समाज है। गलतियाँ व्यक्तियों की होती हैं, हमारी होती हैं, उन्हें 'समाज की गलती' कहकर नहीं टाल सकते। समाज सारे व्यक्तियों को एक रूप देता है, मानवता का समाज व्यक्तियों में एकरूपता लाता है जबकि व्यक्ति अनेकरूपता लाते हैं ! संगमर्मर की मूर्ति में कहें तो संगमर्मर समाज है, नाक-कान-हाथ-पैर व्यक्ति हैं। अखण्ड समाज में तत्तत् स्थल पर जो स्फुट हुआ वह व्यक्ति है। वेद के 'पुरुषसूक्त' में समाज के स्वरूप की व्याख्या है। जिस ढंग से संगमर्मर अपने को स्फुट करता है उसमें भेद होता है, समाज में व्यक्तियों का भेद अनिवार्य है। किन्तु व्यक्तियों का समाज से आत्यंतिक भेद नहीं जैसे मूर्ति के अंगों को संगमर्मर से अलग नहीं मान सकते। इस समन्वय की दृष्टि से व्यक्ति और समाज का सामरस्य है। समाज को स्थायी (being) और व्यक्ति को बदलने वाला (becoming) जानकर ही स्थायी पर दृष्टि रखें तो चंचलता हटकर स्थिरता स्थापित हो सकेगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नौवाँ प्रवचन

शिष्टकी निर्भयता

समष्टि और व्यष्टि का समन्वय इहलोक-परलोक आदि प्रत्येक स्तर पर चाहिये। रोज़मर्रे के दृष्टिकोण से आगे भी बढ़ना आवश्यक है क्योंकि इस व्यावहारिक से सूक्ष्म भी हमारा 'अधिकरण' है और वहाँ भी सामंजस्य ज़रूरी है। सिद्धांतों पर विचार का प्रयोजन दार्शनिक चिन्तन-धारा को व्यावहारिक बनाना है। दर्शन जिज्ञासा की परिसमाप्ति है। अंग्रेज़ी वाले दर्शन का अनुवाद philosophy करते हैं जिसका शब्दार्थ है—ज्ञान से प्रेम। प्रेम होने से प्रतिक्षण ज्ञान को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति सहज है। अतः प्रतिदिन के व्यवहार-क्षेत्र में दर्शन का विनियोग अभीष्ट है, उसे केवल बौद्धिक संभावनाओं (intellectual apprehension) का रूप देना उचित नहीं है। दर्शन का वास्तविक भाव यह है ही नहीं कि उसे व्यवहार से अतीत रखा जाये।

वर्तमान मानव के लिये एक प्रधान समस्या है सामाजिक, मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में चिन्ता ओर भय व्याप्त होने की। प्रत्येक व्यक्ति से लेकर प्रत्येक राष्ट्र तक सब भयभीत हैं। इसका मूल, कारण समझना चाहिये। भय से पहले आती है चिन्ता (anxiety)। चिन्ता में अभी भय प्रकट नहीं हुआ क्योंकि कोई कारण सामने नहीं आया है। कारण उपस्थित होने पर भय हो जाता है। यही चिन्ता और भय में अन्तर है। हमारे लिये अधिक समस्या चिन्ता है, न कि भय। जीवन में जो समस्या सामने नहीं है उसके बारे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में "यदि ऐसा हुआ तो क्या होगा ?"—यह मनोभाव चिन्ता की अवस्था है। व्याघ्र सामने है तब उससे भय लगेगा, पर ऐसा तो बहुत कम अवसरों पर होगा; "व्याघ्र आ गया तो क्या होगा ?" इस चिन्ता के अवसर तो हर समय उपलब्ध रहते हैं ! विज्ञान की बढ़ोत्तरी से दीर्घदृष्टि मिल जाने के कारण भय तो धीरे-धीरे घटता है क्योंकि भयोत्पादक वास्तविक कारणों का आमना-सामना न्यून-न्यूनतर हो जाता है। किन्तु जितना भय घटता है उतनी चिन्ता बढ़ जाती है ! भय स्वाभाविक है, एक सहायक जैविक भावना (secondary biological emotion) है, स्वरक्षा में प्रवृत्ति कराने वाला भावविशेष है। अपनी रक्षा के लिये भय प्रेरणा देता है। आज केवल आत्मरक्षा के लिये भय का उपयोग हो ऐसा नहीं है। आत्माभिव्यक्ति में प्रतिबंध आने से भी चिन्ता और भय की स्थिति हो जाती है। धनिक की समस्या है कि बैंक में रुपये रखे तो सरकार पता चला लेती है और गाड़ कर रखे तो चोर पता चला लेते हैं ! दोनों हालतों में पहले चिन्ता फिर जब दोनों में से किसी को पता चल गया तब भय हो जाता है। ऐसे ही अपने ज्ञान और विश्वास को प्रकट करने में रुकावट से चिन्ता और भय होते हैं। विद्वान् को उसका मत व्यक्त करने न दिया जाये तो उसके लिये चिन्ता व भय का ही कारण बनता है। "कोई बात काट न दे" यह भी विद्वानों को एक चिन्ता रहती है !

आत्मरक्षा की तरह अन्य भी जो समस्याएँ आती हैं उनका सामना करने के लिये जो परिवर्तनशीलता चाहिये वह चिन्ता और तनाव लाती है। हमें पता नहीं कि कल क्या होने वाला है अतः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनंत संभावनाएँ हमारे सामने मँडराती हैं और हम चिन्ता करते हैं "कल हम क्या करेंगे"! अचेतन मन में चिन्ता का कारण हैं समस्याएँ। उसका असर है कि दबाव बना रहता है, दिल में भारीपन रहता है। इसे ही मानसिक तनाव कहते हैं। चिन्ता बढ़ने से स्नायुदौर्बल्य हो जाता है अतः चिन्ता और बढ़ जाती है! चिन्ता दबाने के लिये लोग नशा कर लेते हैं, सुरापान का महापाप तक कर लेते हैं। नशे से थोड़ी देर के लिये चिन्ता कम होती है, उत्साह या जोश (pep, kick) भी आता है पर उससे मानसिक तनाव दूर नहीं होता बल्कि तनाव सहने की मनःसामर्थ्य घटती ही है। तनाव का कारण जो मानसिक चिन्ता है उसे भूलने का प्रयास नशा है।

जब भय का प्रवाह चलता है तब हिंसात्मक प्रवृत्ति होती है। भयकाल में स्वरक्षार्थ दूसरे की हिंसा तक कर लेते हैं। भय वास्तविक हो या काल्पनिक—अर्थात् उसका हेतु सत्य हो या मिथ्या—पर हिंसाभाव वह चित्त में लाता ही है। आक्रामकता (aggressiveness) भी हिंसा का ही रूप है। स्वयं को अपराधी समझने पर प्रशांतक औषधि (tranquillizer) का सेवन करना स्वयं की हिंसा है ! भय के तनाव में ग्रस्त रहने से हम अव्यवस्थित (maladjusted) हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में हम न अपने लिये व न समाज के लिये कोई सार्थक कार्य करने में सक्षम रह जाते हैं। हमारा अस्तित्व स्वयं हमें बोझ लगता है तो समाज उसे सहजता से स्वीकार सके इसकी कहाँ संभावना है ! विचार करो, आत्महत्या का प्रयास करने वाले के विरुद्ध मुकद्दमा क्यों चलता है, उसका अपराध किसके प्रति है ? व्यक्ति पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समाज का अधिकार है। आत्महत्यारा अपनी सेवाओं से समाज को वंचित करता है यही उसका अपराध है। अतः यदि हम आत्मिक प्रगति नहीं करते तो यह भी आत्महत्या का ही एक रूप है और अगर हमें आत्मोन्नति से रोका जाता है तो वह भी आत्मा की ही हत्या का प्रयास होने से उस पर समाज को रोक लगानी चाहिये। जो लोग शराब आदि के नशे में डूबे रहकर यथोचित सेवा समाज को नहीं देते उन्हें अपनी सामर्थ्य के दुरुपयोग से रोकना समाज का कर्तव्य है क्योंकि अपनी प्रगति रोकने वाला भी आत्महिंसक है। जैसे दूसरों पर आक्रामक बनकर उन्हें मारा जाता, विकसित होने से रोका जाता है वैसे ही इस प्रकार के प्रयास आत्मा पर आक्रमण (self aggression) ही हैं।

दूसरों पर भी ऐसी 'उपाय हिंसा' होती है जैसे दूसरे को ठगना; एक वर्ग (class) का रूप देकर आन्दोलन (struggle) आदि करने के लिये बाध्य करना आदि भी मज़दूरों पर आक्रमण (aggression) है जैसे मज़दूर (labour) का मालिक को दबाने का प्रयास मालिक पर आक्रमण है। स्वयं धनिक वर्ग लखपति, करोड़पति, उद्योग-सम्राट (industrial magnate), एकाधिकारी (monopolist) आदि बनने की कोशिश में आपसी हिंसा करता है। न संभाल सके उन कार्यों को भी अपने हाथ में लेना सामाजिक दृष्टि से हिंसा है, जो वे काम कर सकें उन्हें प्रोत्साहित न कर सके तो कम-से-कम उन्हें करने तो दे। पूंजीवादी धनाढ्य राष्ट्र अन्य देशों पर, वहाँ की अर्थव्यवस्था पर अपना नियंत्रण रखते हैं—यह भी हिंसा है। धनकी भूख की सीमा हो यह यदि संभव भी हो तो दूसरे को नियन्त्रित करने की भूख की कोई सीमा नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होती, वह भूख कभी नहीं मिटा सकते। काशी में न्यायशास्त्र के एक प्राध्यापक थे जो परीक्षा में किसी को उत्तीर्ण ही न करें ! वे नेपाल चले गये तब छात्र उत्तीर्ण होने लगे। विद्या क्षेत्र में भी यह हिंसक प्रवृत्ति अनेकत्र लक्षित होती है। अनेक प्रभावशाली वैज्ञानिक सभी को अपने से नीचा ही रखना चाहते हैं, स्वतंत्ररूप से अनुसंधान नहीं करने देते। यह सब 'उपाय हिंसा' के रूप हैं।

चाहे आत्महिंसा हो या बाह्य हिंसा, नतीजा समान ही होता है कि व्यक्ति और समाज सहज न रहकर विक्षिप्त हो जाता है, स्वयं को नुकसान पहुँचाने लगता है। संसार में सबसे बड़ा धनिक समझा जाने जाने वाले जॉन रॉक फैलर ने आत्महत्या से जीवन समाप्त किया ! कितनी अधिक उपाय-हिंसा का दबाव उस पर रहा होगा यह कल्पनातीत है। वह स्वयं की व दूसरों की, दोनों हिंसाओं का शिकार बना होगा तभी ऐसा क़दम उठाने में प्रवृत्त हुआ। भारत के प्राचीन मनीषियों ने चिन्ता व चिता को स्वरूपतः भिन्न नहीं माना बल्कि चिन्ता को चिता से बढ़कर माना है ! चिन्ता भीतर-ही-भीतर लगातार जलाती रहती है।

जैसे निर्णीत या अनिर्णीय विषय चिन्ता-हेतु बनते हैं वैसे ही विकास-प्रक्रिया के, वातावरण के, व्यवस्था के कारण भी चिन्ता पनपती है। बचपन में माता-पिता के प्रेम से वंचित बच्चे सरलता से असमन्वित (maladjusted) हो जाते हैं। स्वाभाविक रूप से उपलब्ध होने योग्य उस प्रेम ने ही जब उन्हें ठग लिया तब वे आगे संसार में किसी चीज़ को नियमित नहीं मान पाते जिससे अनिश्चयावस्था में जीते हुए उनकी चिन्ताओं का क्षेत्र और मात्रा बढ़ते जाते हैं। कई लोग प्रशंसा से घबराते हैं ! माता ने प्रशंसा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की, पिता ने डाँट दिया—यह क्रम यदि अत्यधिक चलता रहे तो बालक प्रशंसा सुनते ही डाँट की आशंका से चिंतित हो जाता है, प्रशंसा न हो यही इच्छा रखता है। समाज की माता संस्कृति है तो पिता शिष्ट पुरुष हैं। केवल संस्कृति से समाज नहीं होता। और संस्कृति केवल पुस्तकें—वेद, रामायण आदि—नहीं है ! पुस्तकें सैद्धान्तिक निर्देश दे सकती हैं, प्राचीन प्रयासों के उदाहरण दे सकती हैं, दिशा सुझा (guidance) सकती हैं पर जब तक शिष्ट पुरुष तदनुसार तात्कालिक रूप जीवन में प्रकट न कर पायें तब तक संस्कृति कार्यकारी नहीं हो सकती, स्थूल रूप से दोष न दीखने पर भी भीतरी सामर्थ्य से रहित हो जाती है मानो संस्कृति को स्नायुरोग (neurosis) हो गया हो ! समाज समष्टि अन्तःकरण है। जिस समाज में शिष्ट पुरुषों का आचरण संस्कृति के मुताबिक नहीं होता उस समाज को स्नायुदौर्बल्य का रोग हो जाता है। शिष्ट पुरुषों से ही बाकी लोग संस्कृति का रूप समझ सकते हैं। जब तक संस्कृति और शिष्ट लोग एक-दूसरे के पूरक न बनें तब तक समाज नहीं पनप सकता। जैसे बोतलों के दूध से बच्चे जीवित भले ही रह जायें, पनप नहीं सकते वैसे ही केवल ग्रंथों से, उपदेशों से संस्कृति का स्मरण भले ही बना रहे पर उसे जिया नहीं जा सकता; माँ के दूध से ही बच्चे के विकास की तरह शिष्टों के प्रत्यक्ष उदाहरण से ही संस्कृति को जीकर समाज का रूप दिया जा सकता है। संस्कृति की शिक्षा चाहे जिस प्रकार दी जाये पर इसका कोई विकल्प नहीं कि शिष्टों को संस्कृति का व्यावहारिक रूप सामने रखना पड़ेगा, स्वयं उसे जीवन में लाकर प्रत्यक्ष कराना पड़ेगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिस समाज में शिष्ट जनों की कमी होगी वह संस्कृति से दूर हटता चला जायेगा और निरादर्श होकर, दिशाहीन बनकर बिखरने लगेगा। शिक्षा से, सीखने से शिष्ट बनते हैं। जिसने संस्कृति को रग-रग में अपना लिया है वही शिष्ट है। केवल भले आदमी (gentlemen) होने से शिष्टता नहीं आ जाती। शिष्ट में एक विशेष पौरुष, सृजनात्मकता, निष्ठा, उत्साह, धैर्य और दायित्वबोध चाहिये जिससे वह प्राप्त परंपरा का परिष्कृत रूप अन्यों में स्थापित करने के लिये सचेष्ट रहे। श्रेष्ठता-हीनता ग्रंथियों (superiority, inferiority complexes) को हटाकर ही शिष्ट बन सकते हैं। श्रेष्ठताबोध श्रेष्ठताग्रंथि नहीं है। वास्तविक और मौजूद प्राशस्त्य के योग्य प्रतिक्रियाओं की अपेक्षा बहुत बढ़ी-चढ़ी प्रतिक्रियाएँ होने लगें, सामर्थ्य के बजाये इच्छाएँ और स्मृतियाँ प्रभावी होने की कोशिश करें तब उसे ग्रन्थि कहा जायेगा। ऐसे ही जितनी निकृष्टता है उसे उससे बढ़ा-चढ़ा समझकर व्यवहार होने लगे तब निकृष्टता या हीनता की ग्रन्थि कही जायेगी। शिष्ट अपने आदर्शों को श्रेष्ठ तो जानेगा पर ग्रंथिग्रस्त नहीं होगा। उचित या अनुचित समझकर कार्य करने या छोड़ने से ग्रंथि नहीं बनती, उन्हें बेहतर या हीन समझकर करना या छोड़ना ग्रंथि बनाता है। कुछ लोग अपने घर का ठिकाना बताने में ही बड़प्पन या छोटापन महसूस करने लगते हैं ! अमुक बस्ती में रहने को ही उत्कृष्ट या हीन मान लेते हैं। यह ग्रंथि है क्योंकि इसमें वास्तविकता और औचित्य की ओर दृष्टि नहीं है। ऐसे ही धनकी बहुतायत या कमी से व्यक्ति स्वयं को श्रेष्ठ या निकृष्ट मानने लगे तो ग्रंथि है; स्वयं को संपन्न या गरीब जानना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्रंथि नहीं, वह वस्तुस्थिति है पर संपन्न होना उचित या गरीब होना अनुचित तो है नहीं कि उससे स्वयं को उत्कृष्ट या निकृष्ट समझा जाये। बल्कि अनुचित रूप से जो सम्पन्न बना है वह उचित रूप से गरीब रहे व्यक्ति की अपेक्षा निकृष्ट ही है ! शिष्ट व्यक्ति इस प्रकार ग्रंथियों से नहीं बँधता।

भगवान् ने स्पष्ट कहा—"स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभते नरः"—अपने-अपने कर्म में लगा व्यक्ति पूर्णता पा सकता है। झाड़ू लगाने वाला यदि सर्वथा समुचित ढंग से झाड़ू लगाता है तो वह भी समाज का वैसा ही विशिष्ट घटक है जैसा समुचित ढंग से आर्थिक विकास करने वाला व्यापारी। अपना कार्य करने से कोई निकृष्ट नहीं हो जाता, दूसरे का कार्य करने से उत्कृष्ट भी नहीं हो जाता, वरन् अपना कार्य सही तरह करने से ही उत्कर्ष होता है। जब 'अपना कार्य' की दृष्टि हटती है तभी अशांति होती है और अशान्त व्यक्ति या समाज कभी सुखी नहीं हो सकता। आज मध्यम वर्ग दुःखी क्यों है ? उसके पैर गरीबी में हैं पर कल्पनाएँ अमीरी की हैं ! जहाँ पैर हैं वहीं रहे तो दुःख नहीं है; उसके प्रधान दुःख तुलनाजन्य हैं, अमीरों की तुलना में उसे अपने पास कमी महसूस होती है। अपने स्तर से दृष्टि हटी तभी अशांति आयी और उपलब्ध सुख भी प्रसन्नता देने में अक्षम हो गये। हर-एक का जो 'अपना' है वह उसके लिये पूर्ण है, उसी से वह समाज के विकास में पूरा योगदान दे सकता है—यह दृष्टि हटने से कुछ कार्यों को ही हीन मानने लग गये। इसमें आर्थिकता भी मापदण्ड नहीं है : मज़दूर के घर में चार व्यक्ति मिलकर छह सौ रुपये कमा लेते हैं फिर भी मुंशी (clerk), जिसके घर तीन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सौ रुपये की ही कमाई है, अपने को मज़दूर से बड़ा समझता है। इस असंगत, प्रमाण-विचार पर अनाधारित बड़े-छोटेपन की भावना के कारण समाज में विशृंखलता फैल रही है। लोग अनेक कार्यों को हीन मानकर छोड़ रहे हैं और उच्च मानकर कुछ कार्यों के प्रति लालायित हो रहे हैं। आज जब दलित वर्ग को उन्नत बनाने के लिये कहा जाता है तब इतना ही मतलब है कि अमुक कार्यों को न कर मेज पर बैठकर वे लोग कलम घिसने लग जायें मानो कलम घिसना उन्नत कार्य हो ! उत्पादकता की दृष्टि से भी लिपिक वर्ग का योगदान श्रमिक वर्ग से कहीं कम है; जिस धन पर लिपिक पलते हैं वह श्रम से ही उपजेगा, केवल लिपिकों से कोई उद्योग-व्यापार नहीं चलेगा। पर श्रम को हीन बताकर लोगों को उससे विमुख कर रहे हैं, सामाजिक स्तर पर जो अभी सुखी हैं उन्हें अपने जैसा दुःखी बनाना चाहते हैं। लिपिक बनते ही आकांक्षाएँ-अपेक्षाएँ सब बदल जायेंगी, उसी होड़ में शामिल होंगे जिसमें मौजूदा मुंशी लोग पहले से लगे हैं और उन्हीं दुःखों से दब जायेंगे।

समाज में प्रत्येक घटक को शिष्ट पुरुषों द्वारा शिक्षा मिलनी चाहिये कि तुम जहाँ हो उसी काम को करते हुए उन्नति करो। घड़ी का एक पुर्जा (hair spring) स्विटज़रलैण्ड में बड़ी निपुणता से बनाया जाता है, वह लोहे का होने पर भी सोने से मँहगा है ! समाज के प्रत्येक घटक को सोना बनाने का प्रयास निरर्थक—वस्तुतः अनर्थक भी—है, कीमत तो लोहे की भी बढ़ाई जा सकती है; योग्यता बढ़ाने से उन्नति होगी, केवल कुछ कार्य छोड़कर दूसरे कार्य करने से न व्यक्ति की, न घटकों की, न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समाज की उन्नति संभव है। उत्कर्ष-निकर्ष कार्यों से नहीं वरन् उन्हें कैसे किया इससे है। अपने कार्यों को बेहतर कैसे करें यह सीखना है। जब शिष्ट सब को यथोचित आदर देता है, कार्यभेद को व्यक्ति या समुदाय के आदर-निरादर का हेतु नहीं बनाता वरन् प्रत्येक कार्य में योग्यता को हेतु बनाता है तब लोगों को अपनी स्थिति भी संतोषप्रद लगती है और वे कार्यान्तरण के बजाये योग्यता-लाभ के लिये सयत्न होते हैं। बराबरी की मानसिकता संभव है, स्थूलतः एकता नहीं हो सकती। इसी नासमझी ने खाद्यान्नों में चोर बाज़ारी आरंभ कराई : प्रत्येक वयस्क को चार छटाँक चावल, आठ छटाँक आटा यों बारह छटाँक अनाज देने लगे तो पंजाबी चावल बेचेगा और बंगाली आटा बेच देगा! हिंदी में कहावत भी है "चींटी को कण, हाथी को मन" यह बराबरी की दृष्टि है।

गलती यों शुरू होती है कि दार्शनिक सोचते हैं कि जो बात उन्हें जँच जाती है वह सबको क्यों नहीं समझ आती! पहलवान सबको पहलवान बनाना चाहता है। मनोवैज्ञानिकों को लगता है कि उन्हीं के सिद्धांतों से सब सुखी हो जायेंगे, अभियन्ता, चिकित्सक सभी यही समझते हैं कि उनके विज्ञान से, तकनीक से सब लोग सुखी हो जायेंगे। वास्तविकता है कि हमेशा ही विचारधाराएँ अलग-अलग रहेंगी, जितने व्यक्ति उतने विचार होते हैं। जैसे सब भेड़ों को इकट्ठे ही हाँक देते हैं ऐसा ही प्रयास 'भावना-संघटन' (emotional integration) का है मानो नारा लगाने से सबकी एक ही भावना हो जायेगी ! भावनाएँ प्रत्येक व्यक्ति की अलग रहेंगी ही। श्रीराम, श्रीकृष्ण के प्रति भी एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही समय सबके एक भाव नहीं थे। एक ही जगह, एक ही समय भीष्म श्रीकृष्ण को प्रणाम कर रहे थे और दुर्योधन भगवान् को गिरफ्तार करने का मंसूबा बाँध रहा था ! जब ऐसे महान् व्यक्तियों के प्रति एक ही प्रकार की भावना नहीं उमड़ पायी तब भावना के एकीकरण का नारा कितना खोखला है यह स्पष्ट है। आत्मा के स्तर पर एकीकरण (integration) संभव है, अनात्मा का वैसा एकीकरण नहीं हो सकता। आत्मशक्ति ही सबको एकीकृत कर सकती है क्योंकि वास्तव में आत्मा एक है।

सारा जगत् आत्मा से विकसित हो रहा है, सारे विचार भी उसी महत् तत्त्व से आते हैं, सबकी योग्यतानुसार सभी उसे ग्रहण करते हैं। कलकत्ता में एक शेयर दलाल हैं जिनकी सलाह से अनेक लोग लखपति बन गये पर वे स्वयं कोई सौदा कर लें, खुद व्यापार करें तो घाटा हो जाता है ! सलाहकारी की विशेषता होने से व्यापार की विशेषता आ जाये ऐसा नियम नहीं। इसी प्रकार सफल व्यापारी राय भी ठीक दे सके ऐसा कोई नियम नहीं, एक सज्जन स्वयं ही कहते हैं कि उन्होंने एक बैंक फेल करा दिया ! जैसे उपकरणभेद से कार्यभेद होता है, ऊर्जा एक बिजली की रहती है; वैसे विभिन्न लोग विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति कर सकते हैं, जहाँ कहीं प्रगति होगी वहाँ आत्मशक्ति विद्यमान होगी ही। उस शक्ति को दृष्टि में रखें तो एकता स्पष्ट हो जायेगी और उपकरणस्थानीय व्यक्तियों को, समुदायों को एक करने जायेंगे तो कोई लाभ नहीं होगा, हानि ही होगी। जिस काम की तरफ आत्मशक्ति तुम्हें ले जा रही है उसकी तरफ ध्यान दो क्योंकि आत्मशक्ति के प्रकटीकरण के लिये प्रत्येक का क्षेत्र अलग होगा,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किसी में भौतिक शक्ति विकसित हो सकती है तो किसी में मानस शक्ति। जीवित साम्यवाद का आदर्श रखना है, श्मशान के साम्यवाद का नहीं ! जिसके पास जो सर्वश्रेष्ठ है उसे वह समाज को दे–यह समानता अभीष्ट है। समाज की दृष्टि से देखें तो यह स्पष्ट होगा। अभी हम व्यक्ति की दृष्टि से देखते हैं तो स्थूल समानता को महत्त्व दे देते हैं। जब व्यक्ति समाज की दृष्टि से देख पायेगा तब इस गलती से बचेगा।

हम प्रेरित इसलिये नहीं होते कि हमने प्रेरणा (inspiration) लेना छोड़ दिया है, आत्मशक्ति ('spire') को ग्रहण ('in') करने का प्रयास त्याग दिया है। प्रेरणा पाने के लिये दृष्टि निश्छल होनी चाहिये। अन्तर्यामी जब हमें प्रवृत्त करे तब उसका निर्देश ग्रहण करना प्रेरित होना है। यह साधना के फलस्वरूप हो पाता है। यों जिसने प्रेरणा लेना सीख लिया वही शिष्ट जन होता है। संस्कृति का समाज के व्यक्तियों में विकास हो इसके लिये बीज का आधान शिष्ट पुरुष ही कर सकते हैं। संस्कृति को बल देने वाले वे ही होते हैं जिनमें शिष्टता स्थिर है। समाज में संस्कृति फले-फूले इसके लिये हमें शिष्ट जनों का निर्माण करना होगा। इसके लिये निश्चिन्तता का, अभय का वातावरण बनाना अत्यन्त आवश्यक है। अभी तो बालकपन से ही डर बना रहता है। बच्चा अकेले में डरता है, माँ कहती है 'भगवान् तो हैं' पर वह पूछता है 'कहाँ हैं ? दिखाओ।' डर भगाने के लिये भगवान् दिखाना पड़ता है। 'विश्वम्भर पेट भरेगा'–इसका अनुभव करा सके तब तो विश्वास श्रद्धा में परिणत होकर दिव्यता की ओर कदम बढ़ाने का उत्साह होगा, अन्यथा भयाक्रान्त जीवन निस्तेज, धूमिल ही रह जायेगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विश्वम्भर का रूप समाज है। समाज में भगवान् दीखे यह व्यवस्था बनानी है। बच्चे को समाज पर भरोसा हो सके तो वह डर छोड़ेगा। अपराधी खुले घूम रहे हों तो बच्चे को अपरिचित से बचने की ही शिक्षा दोगे, यदि समाज शिष्टप्रधान बना लोगे तो अपरिचित पर भी विश्वास सिखाओगे। सर्वत्र विश्वास की दृष्टि होने पर भय दूर होता है। अधिकारी बीस साल तक पदासीन रहकर भी यदि अस्थायी (temporary) बना रह गया तो किस विश्वास पर टिक कर वह स्थिरता से काम करेगा ? जब स्थिरता होती है तभी कोई महत्त्वपूर्ण कार्य संपादित किया जा सकता है। मानव को चिन्तामुक्त करना समाज का दायित्व है। "तुम अपना कर्तव्य-निर्वाह करो, अन्य समस्याओं का सामूहिक हल किया जायेगा उसके लिये घबराओ मत"—यह जब समाज व्यक्ति को समझा सकेगा, शिष्टों के व्यवहार में जब यह व्यवस्था प्रकट होगी, आपत्ति-दशा में संभालने की प्रक्रिया लोगों को प्रत्यक्ष होगी, तब व्यक्ति चिन्ता छोड़ पायेगा, भय के त्रास से बच सकेगा। यह आश्वासन देना कर्तव्य समाज का है पर समाज के इस कर्तव्य का पूरक व्यक्ति को बनना पड़ेगा। व्यक्ति समाज का मूर्त रूप है अतः स्थूल प्रयास व्यक्ति को करना पड़ेगा। जब हम साधना से प्रेरणा पाने में सक्षम होकर शिष्ट बनेंगे तब हमारा व्यक्तिगत प्रयास ही अन्यों के लिये प्रेरक उदाहरण बनकर उन्हें भी हमारे प्रयास से जोड़ेगा जिससे हमारी चेष्टा वैयक्तिक न रहकर व्यापक हो जायेगी और चतुर्दिक् वातावरण शिष्टता का बनकर वही सामाजिक चलन हो जायेगा, सुरक्षा, स्थिरता, निर्भयता, एकता, विश्वास, आदर के प्रति व्यक्ति आश्वस्त रहने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लगेगा, जीवन की बिभीषिका आनंद का निकुंज बन जायेगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दसवाँ प्रवचन

शिष्ट ही नेता

वेद की दिव्यदृष्टि इहलोक-परलोक दोनों की उन्नति में व्यक्ति और समाज के समन्वित प्रयास को हेतु बताती है। समष्टि-व्यष्टि में सर्वथा भेद है इस मान्यता को दूर करके मानव एकत्व-दृष्टि (unitary consciousness) का सम्पादन कर पाया तभी उन दोषों की निवृत्ति होगी जो समाज को इस योग्य नहीं बनने दे रहे कि व्यक्तियों का समंजसता से विकास हो सके, शिष्टता की वृद्धि से संस्कृति की परंपरा परिष्कृत हो सके। वर्तमान समाज चिन्ता व भय से ग्रस्त होने के कारण हिंसा से दूषित है। चिन्ता ही हिंसा का रूप धारण कर लेती है। रोग का निदान, कारण, समझकर ही समुचित औषधि से उपचार किया जाता है। सामाजिक रोग को दूर करने की भी प्रक्रिया यही है।

हिंसा की भावना क्यों आती है ? चिन्ता से मानव क्यों ग्रस्त होता है ? पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने कई हेतु बताये हैं। सुखेच्छा (pleasure principle), स्त्री-पुरुष के परस्पर भोग की इच्छा (libido, sex-urge), आत्माभिव्यक्ति (self-expression), दम्भ (superiority), महत्त्वाकांक्षा (ambition) आदि अनेक कारण विभिन्न विचारकों ने प्रतिपादित किये हैं। उन चिन्तकों की रीति रही कि किसी एक हेतु को ही प्रधान मानकर सारी व्यवस्था बनाना चाहते हैं अतः प्रत्येक विचारधारा एकांगी रह जाती है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों में सभी ने किसी-न-किसी एक कारण को सर्वोपरि मानकर हेत्वन्तरों को उसके प्रति गौण रूप से ही समझने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का प्रयास किया है। इससे विलक्षण है भारत के योगदर्शन कि समन्वित दृष्टि।

पातंजल दर्शन ने व्यक्तियों के अध्ययन से निष्कर्ष निकाला कि सब मानवों में नियमतः एक ही विशेषता प्रधान नहीं होती। कोई ज्ञानप्रधान होता है, कोई भावना-प्रधान होता है तो कोई क्रियाप्रधान होता है। क्योंकि सारे समाज को दृष्टि में रखा इसलिये भारतीय योगदर्शन के विचारकों ने इस तथ्य का युक्तियुक्त निर्धारण किया। समाज में यदि कोई एक ही गुण प्रधान माना गया तो अनेक व्यक्तियों में हीनभावना बढ़ेगी क्योंकि प्रधान माने गुण की तरफ बढ़ने के अयोग्य ही अधिक होंगे, बहुत कम लोग ही सहज में उसे प्रधान स्वीकार पायेंगे। अनन्त विशेषताओं वाले असंख्य व्यक्तियों के समाज में किसी एक ही धारणा को सर्वप्रधान मानने से समाज विशृंखलित हो जाता है। यह स्वीकार लिया जाये कि प्रत्येक व्यक्ति की कामनाएँ अलग-अलग होती हैं, हर-एक का प्रधान आकर्षण, मुख्य प्रेरक पृथक् होता है और यह स्वाभाविक है, तो समाज में बिखराव नहीं आता। इस सर्वसंग्राहक सिद्धांत का नतीजा होना चाहिये कि ज्ञान को प्रधान रखकर चलने वाला भावनाप्रधान होकर चलने वाले को नीचा न समझे, भक्त कर्म करने वाले को नीचा न समझे। अन्यत्र की तरह धार्मिक क्षेत्र में भी ऊँच-नीच भावना से मनुष्य प्रताडित होता है। 'अधिकारी' का विचार भारतीय दर्शन का आवश्यक और विलक्षण वैशिष्ट्य है। जो बात बतायी जा रही है उससे लाभान्वित होने के जो लायक है वही उस बात को सुनने-समझने का 'अधिकारी' माना जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विभिन्न अधिकारियों को दृष्टि में रखकर शास्त्र विभिन्न उपदेश देते हैं अतः वे उपदेश परस्पर तुलनापूर्वक ऊँचे या नीचे नहीं कहे जा सकते। अपने-अपने अधिकारी के लिये वे-वे उपदेश ही उपयुक्त हैं। इसलिये ज्ञानमार्ग को ही श्रेष्ठ नहीं बताओ। प्रत्येक साधक की मानस स्थिति देखकर उसके प्रेरक बल (driving force) का निर्धारण करो, तदनुसार उसे साधन बताओ, वही साध ान उसके लिये परिपूर्ण है, सही है। श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में यह सावधानी बर्तने का निर्देश दिया है :

'न बुद्धिभेदं जनयेद् अज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्।।'

नासमझ की बुद्धि को संशयग्रस्त मत करो। जिस बात को समझने लायक वह नहीं है वह बात उसे सुनाकर जिस पर उसे श्रद्धा है उससे उसे विचलित मत करो। जो कर्म में आग्रही है, करके ही कुछ मिल सकता है ऐसा जिसका विश्वास है, उसे कर्म में ही लगाना चाहिये, उसे कर्म के दौर्बल्य की बात सुनाकर कर्म में अश्रद्धालु मत बनाओ।

भगवान् के कहने के बावजूद हमारे यहाँ ध्यान-धारणा करने वाला मूर्तिपूजक का मज़ाक उड़ाता है। स्वयं में चाहे शम-दम न हों पर ज्ञानमार्ग वाला भक्त को नीचा समझता है। इस विचार और व्यवहार से तुम समाज को नष्ट करोगे। ऐसी दृष्टि रहने पर दूसरों में हीनभावना उत्पन्न होगी, उसकी प्रतिक्रिया समाज को प्रताडित करेगी। अधिकतर लोग अपने हित-अहित का विचारित निर्णय अपने आप नहीं कर सकते। कोई चाहता है धन, कोई इज़्ज़त, कोई स्त्री, पर यह नहीं जानता कि उसे क्या पाना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चाहिए। संसार में अधिकांश लोग मनोवेगानुसार (impulsive) प्रवृत्ति करते हैं। किसी ने शिवोपासना बतायी तो वह कर ली, दूसरे ने कह दिया "शिव में क्या रखा है, विष्णु की उपासना करो" तो वह करने लगे, तीसरे ने देवी का महत्त्व बता दिया तो उनकी उपासना में लग गये—यों साधनायें बदलते रहते हैं। इसी तरह नौकरियाँ बदलते रहते हैं ! हर विषय में यही हाल है। इसका फल होता है कि जीवन के सन्ध्याकाल में पाते हैं कि हम वहीं हैं जहाँ से जीवन प्रारंभ किया था ! अधिकतर लोगों को उपयुक्त कार्यक्षेत्र (scope) नहीं मिल पाता। चाहते सब हैं सुख-शान्ति पर कैसे मिले—इसका बड़े-बड़े विचारक भी निर्णय नहीं कर पाते। जो पथ बना जाते हैं वे सचमुच नमस्कार के योग्य हैं। नये मार्ग का निर्माण हर कोई नहीं कर सकता। पहाड़ में सड़क केवल अभियन्ता बना सकते हैं। साधना-मार्ग के निर्माता भी ऋषि ही हैं। यह संभव नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति अपना मार्ग बनाये। लोग ऋष्य श‍ृंग का उदाहरण देकर सबको कहने लगते हैं "तुम भी अपना पथ निर्माण कर सकते हो"! यह भूल जाते हैं कि अद्‍भुत तेजस्वी वे महान् ऋषि मार्ग के निर्णायक थे, उनकी तुलना साधारण व्यक्ति से करना अनर्गल है। आज स्वातन्त्र्य के नाम पर व्यक्ति को छूट है कि मर्ज़ी आवे सो करे परन्तु यह स्वतंत्रता न केवल व्यक्ति व समाज के लिये अहितकर है वरन् युक्तियुक्त भी नहीं है। मनोवैज्ञानिकों ने परीक्षणों से निर्धारित करने के ढंग खोजे हैं कि कोई व्यक्ति चिकित्सक या अभियन्ता बन भी सकता है या नहीं। वे यह समझ रहे हैं कि व्यक्ति को मार्गचयन के लिये निर्देश आवश्यक है, सहायता अपेक्षित है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये सही निर्णय नहीं ले सकता यह वर्तमान मनोविज्ञान स्वीकार रहा है। व्यक्ति का जो स्तर (station of life) है उसी में पूर्ण बने इसके लिये उसे निर्देश और सहायता चाहिये।

जैसे अधिक लाड-प्यार (pampering) से बच्चे बिगड़ते हैं वैसे ही अधिक डाँट-फटकार से। हर कार्य में उसे मना ही किया जाये तो बच्चे में हीनभावना आ जाती है कि "मैं सही तो कुछ कर ही नहीं सकता"। इसका प्रतिफल उसमें हिंस्र भावना होती है और बाद में वह माता-पिता का दुश्मन बन जाता है। अतिशय लाडला बच्चा समाज के लिये शाप बन जाता है। व्यक्ति समाज का बच्चा ही है ! हज़ार वर्ष तक हमारे समाज ने निषेध बहुत लगा दिये। 'तुम पापी हो' सुनते-सुनते हम स्वयं को पापी मान बैठे हैं। वेद की दृष्टि थी जीवन भर समुचित कर्म करो, अन्त में मरते समय परमात्मा से अपनी ग़लतियों के लिये क्षमा माँगते हुए नमस्कार करो, शुभ पथ पाने की प्रार्थना करो "अग्ने नय सुपथा राये" आदि मरते समय मार्गयाचन का मंत्र है। कालक्रम से इस दृष्टि का ह्रास हुआ, "यह पाप किया तो यों चीरे जाओगे" कि भावना बढ़ गयी। नास्तिकों की तरह हम जीव को पाप से पैदा हुआ नहीं मानते, वैदिक धर्म की मर्यादा से, पुण्यरूप से उत्पन्न हुआ मानते हैं। किन्तु धीरे-धीरे दृष्टि सर्वत्र पाप की बन गयी, कहीं छू दिया तो पाप, कुछ सुन लिया तो पाप; सभी जगह पाप देखने लग गये; इससे तो मरकर ही छुटकारा होगा ! यह ग़लत दृष्टि है। इस 'डाँटने' की बहुतायत की प्रतिक्रिया है कि आज धर्म के प्रति विद्रोह फैल रहा है।

किन्तु यदि अधिक डाँट-फटकार अनुचित है तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अधिक लाड लड़ाना भी अनुचित ही है। आज का समाज केवल लाड लड़ाना (pampering) चाहता है, किसी को सही रास्ते लगाना नहीं चाहता। पहले एक अति में गये, अब दूसरी तरफ अति कर रहे हैं। प्रेम-पुचकार और डाँट-डपट दोनों के सन्तुलन से ही बच्चा नियंत्रित, शिक्षित हो पाता है। व्यक्ति को भी समाज से दोनों मिलते रहें तभी वह ग़लतियों से दूर रहकर सही मार्ग पर उत्साह से बढ़ेगा। धर्मक्षेत्र में ही नहीं, आज समाज मज़दूर तक से केवल लाड करना चाहता है। इस एकांगिता से समाज ने मज़दूर को विचार करना सिखाया नहीं तो उसमें राष्ट्रभक्ति नहीं रह गयी, वह अपने स्वार्थ को सर्वोपरि मानता है भले ही उससे राष्ट्र की सर्वविध हानि होती जाये ! घरों में देखा होगा, बचपन में ज़्यादा दुलार पाने वाली लड़की ससुराल में आनंद से नहीं रह पाती। समाज भी जब से इकतरफा दुलार की ओर झुक गया है तब से दायित्वपूर्ण व्यक्ति, विषम परिस्थिति का सामंजस्यपूर्ण सामना करने वाले दुर्लभ हो गये हैं। माता-पिता आपस में झगड़ते हैं तो गुस्सा बच्चों पर निकालते हैं ! समाज भी जब लाड और डाँट में अव्यवस्थित रहता है तब सारी बुराई व्यक्ति के सिर डाल देता है। व्यक्ति बेचारा इस बोझ से तनावग्रस्त (tense) हो जाता है, वह समझ ही नहीं पाता कि वही अकेला कैसे ज़िम्मेदार है और वह किस उपाय से बुराई हटा सकता है। वह अपने को ठगा-सा महसूस करने लगता है तथा सर्वथा ही जिम्मेदारी नकार देता है। यह भी एक कारण है सामाजिक बिखराव बढ़ने का।

वर्तमान में जो सर्वथा दुलार को प्रश्रय दिया जा रहा है इसका मूल आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति है जो सब्ज़ बाग तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दिखाती है पर नियंत्रण-प्रक्रियाओं का विरोध करने से, व्यक्ति के स्वातन्त्र्य को वास्तविकता से बहुत ज़्यादा बढ़ा-चढ़ाकर मानने से, समाज के पास पुचकारने से अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं छोड़ती। वहीं की विचारधारा का अन्धानुकरण कर भारतीय समाज निर्वीर्य हो चला है। व्यक्ति का प्रशिक्षण अत्यन्त अनिवार्य है, उसके उपयोगी ही स्वातंत्र्य-पारतंत्र्य मान्य होंगे तब समाज सार्थक रहेगा। यदि स्वातंत्र्य या पारतंत्र्य स्वयं में ही प्रयोजन मान लिये जायेंगे तो न व्यक्ति का ही विकास होगा और न समाज का मूल्यवान् उपयोग हो पायेगा। प्रशिक्षण-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अंग भगवान् ने "विद्वान् युक्तः समाचरन्" से बताया कि आदर्श उपस्थित करने वाले व्यक्तियों को, शिष्ट जनों को, अपने आचरण से बाकियों के सामने उदाहरण (example) पेश करना पड़ेगा। शिष्टों के आचरण में संस्कृति की प्रतिध्वनि गूँजनी चाहिये। पश्चिमी विचारक सब्ज़ बाग दिखाकर अपने कर्तव्य की इति समझने लगे हैं, उस काल्पनिक स्थिति तक पहुँचना कैसे संभव है इसके लिये न व्यावहारिक प्रक्रिया बनाने को यत्नशील होते हैं व न स्वयं कोई श्रेष्ठ उदाहरण उपस्थित करते हैं। ऐसों को अच्छा कहानीकार भले ही मान लो पर उन्हें शिष्ट कहना नहीं बनता क्योंकि अपने आदर्श को जीकर वे समाज में स्थापित नहीं करते। श्रमिक, शूद्र (labour), की हानि करना भारतीय परंपरा में कभी ठीक नहीं समझा गया किन्तु उसे अनियंत्रणवश बिगड़ने (pamper) देना भी अनुचित ही माना गया। और इस पद्धति को सहस्रों वर्षों तक जीवित रखा गया, इस व्यवस्था से समाज को समन्वित रूप से चलाया जाता रहा, वैयक्तिक सामाजिक राष्ट्रीय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सांस्कृतिक उन्नति करके दिखायी गयी, केवल बातों और किताबों में सीमित नहीं रखा। यह जो भगवान् का निर्देश है कि जीवन में लाते हुए आदर्श सिखाना चाहिये, इसकी अनिवार्य उपयोगिता पहचाने बिना समाज और संस्कृति सुरक्षित नहीं रह सकते।

नेतृत्व के लिये स्वातंत्र्य ज़रूरी है। आज नेता मत (vote) पर निर्भर है अतः समाज का गुलाम बन गया है, वह समाज के पीछे चलेगा, समाज का मार्गदर्शक नहीं बन सकता। जो जिस पर आश्रित होगा वह उसकी ग़लतियाँ सुधारने की हिम्मत नहीं करेगा। अनेक धनाढ्य मंदिर में घुसने से पूर्व पैर नहीं धोते परन्तु क्योंकि मंदिरों के अधिकारी स्वयं को उन धनिकों के भरोसे समझते हैं इसलिये उन्हें टोक नहीं पाते, प्रवेश से रोक नहीं पाते, समझा नहीं सकते। यही स्थिति नेताओं की हो जाती है : जिनसे मत लेना है उन्हें खुश रखने के लिये दुलार नीति अपनानी पड़ती है क्योंकि वास्तविक हित-अहित समझ कर मतदान करने वाले हमेशा ही अत्यल्प होंगे। जब नेता इस नीति को अपना लेते हैं तब मार्गदर्शन करे कौन ! नेता अपने आचार से जनता को शिक्षित नहीं करता वरन् मतदाता जैसा आचरण करवाना चाहता है वैसा नेता आचरण करता है ! यों जनता के निर्देश से कोई उच्च आदर्श नहीं स्थापित हुआ करता। जनता की मति भी समझना असंभव है : सदाशिव ब्रह्मेन्द्र दक्षिण देश में उच्च कोटि के सिद्ध महात्मा प्रसिद्ध हुए हैं। उनके प्रारंभिक जीवन की घटनाओं में आता है—वे सर्वथा अपरिग्रही थे, कोई सामान आदि पास नहीं रखते थे। विचरण करते हुए एक जगह थककर लेट गये, खेत की मेड़ पर ही सिर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रख लिया, कोई बिछौना तो था नहीं। उधर से कुछ किसान गुजरे तो एक ने ब्रह्मेंद्र को देखकर टिप्पणी की "बाबा तो बन गया पर तकिये का शौक नहीं गया !" सदाशिव स्वामी ने सुना, सोच-विचार कर सरक कर नीचे हो गये, सिर भी समतल ज़मीन पर ले आये। कुछ देर बाद किसान लौटते समय भी उधर से ही निकले तो उन्हें बदली स्थिति में लेटा देखकर बोले "बाबा तो बना है पर सन्मान का मोह नहीं छोड़ा !" वे तो तब प्रशिक्षु ही थे अतः ऐसे अनुभवों से उन्होंने शिक्षा ही ग्रहण की क्योंकि बात सत्य है कि सन्मान की आशा छोड़ना बहुत मुश्किल है। किन्तु नेतृत्व करने वाला यदि इस प्रकार हर-एक की बात मानने लगे तो वह कोई स्थायी आदर्श पेश नहीं कर पायेगा। मार्गदर्शक को स्वयं आदर्श उपस्थित करना है, पिछलग्गू नहीं बनना वरन् आगे बढ़कर लोगों को उत्कर्ष की ओर ले चलना है।

श्रेष्ठता का देश-काल-परिस्थिति के अनुकूल मार्ग तब निर्मित होता है जब शिष्ट जनों और संस्कृति का मेल हो। जो स्वयं शिष्ट नहीं है, जिसने औचित्य की सीख नहीं ग्रहण की है, उसके लिये यह संभव नहीं कि वह पथ- निर्माण कर सके। जिनके लिये रास्ता बनाकर उन्हें उस पर ले चलना है, उनका हित भूलकर जो उन्हें सिर्फ खुश रखना चाहते हैं वे कभी उत्तम आदर्श नहीं पेश कर सकते। शिष्टों की कमी का यह प्रत्यक्ष प्रभाव है कि आज भारतीय समाज में गति नहीं है। गत बीस वर्षों तक भारत में अनेक महान् व्यक्ति रहे पर अकस्मात् आज हमारे देश में श्रेष्ठ साहित्यकार तक अनुपलब्ध हो गये ! इस समय भारतीय समाज गतिहीन, निश्चेष्ट पड़ा है, इसे कोई मार्गदर्शक उपलब्ध नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यक्तियों का, समाज का कब, कहाँ, क्या कर्तव्य है इसका निष्पक्ष निर्देश करने वाला, उस निर्देश का नमूना पेश कर पालन कराने वाला आज गायब है। योजनाएँ (plan) बनायी जा रही हैं, उनसे सामूहिक उन्नति की आशा है किन्तु अन्ततः कार्य प्रत्येक व्यक्ति को करना पड़ेगा, प्रत्येक मानव अपने व्यक्तित्व का अनुदान उस प्रयोजन के लिये न दे पाया तो योजनाओं से उन्नति नहीं होगी। पर हर-एक स्वयं इस कार्य में लगने में अक्षम होता है, उसे प्रेरक चाहिये, सलाह, उद्बोधन, प्रशिक्षण और कुछ हद तक एक प्रेमपूर्ण सोत्साह दबाव चाहिये ताकि सीमित स्वार्थ से बाहर आकर समष्टि के उद्देश्य से परिश्रम करे।

तात्कालिक परिप्रेक्ष्य से हटकर महत्तर संदर्भ में व्यक्ति या समाज तब कार्य कर सकता है जब वह आशंका (insecurity) से ग्रस्त न हो। हममें आज आशंका आ गयी है अतः हम एक दिशा में कदम नहीं उठा पा रहे। "हम ठीक कार्य कर रहे हैं" यह निश्चय होने पर ही संकुचित दायरे के हानि-लाभ की उपेक्षा कर आगे बढ़ा जा सकता है। बच्चा लेख लिखना प्रारंभ करे, दस-बीस पंक्तियाँ देखकर आप प्रशंसा कर दें कि 'बढ़िया लिख रहा है" तो उत्साहित होकर वह बेहतर लेख लिख पायेगा। किन्तु यदि आपकी प्रशंसा को वह झूठा जानेगा तो उक्त लाभ नहीं होगा ! हमारे में भी जब आत्मविश्वास पैदा होगा कि हम ठीक ओर बढ़ रहे हैं तभी गति आयेगी। पहले ठीक समझाना पड़ेगा, करके दिखाना पड़ेगा, चलाना पड़ेगा फिर चलने वाले में आत्मविश्वास जगाना पड़ेगा। यह शिष्टों का कार्य है। आदर्श तो अनेक होंगे पर जिस समाज के लिये जब जो आदर्श चुना जाये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसमें तब के लोगों को यह विश्वास होना पड़ेगा कि वही सबके फायदे का है तभी वे उससे अनुप्रेरित होंगे। जो कर रहे हैं उसकी उपादेयता पर बिना आश्वस्त हुए कोई कार्य लगन से नहीं किया जा सकता।

एक ग़लत ढंग का वैराग्य होता है जो अनित्यता पर इतना ज़ोर देता है कि नित्य को दृष्टि से ओझल ही कर देता है। बौद्धों के सर्वक्षणिकवाद से ऐसे विचार को प्रश्रय मिलता है। विषयों को, व्यवस्थाओं को और स्वयं को भी क्षणिक या अनित्य समझकर जो उनके प्रति उपेक्षाभाव है वह उचित वैराग्य नहीं है। अनित्य का उपयोग नित्य के हित के लिये करना है, अनित्य के मोह में नहीं फँसना है—यह सही वैराग्य है। अपने प्रत्येक क्षण के व्यवहार की हम उपेक्षा करते रहेंगे तो कभी पुरुषार्थ-साधन नहीं हो सकेगा। ऐसा तो है नहीं कि हमारे मरते ही संसार और उसमें हमारा संसरण खत्म हो जायेगा ! हम उपस्थित का यदि विनियोग न कर सके तो जो संसार का और हमारा स्थायी अंश है उसकी ही हानि का कारण बनेंगे। ग़लत वैराग्य का नतीजा होता है कि दुकान में बैठे-बैठे सत्संग याद आता है, सत्संग सुनते-सुनते दुकान याद आती है ! उपस्थित की उपेक्षा का भाव घातक होता है। "मुझे क्या करना है !" यों स्वयं की निःशक्तता, निरर्थकता समझने वाला पौरुषहीन हो जाता है, न अपने व न समाज के जीवन में गति ला पाता है। चीन के आक्रमण के समय दो नेता हमारे पास एक सार्वजनिक अनुरोध (appeal) पर हस्ताक्षर कराने आये। हमने पूछा "हमसे क्या चाहते हो ? धन, प्राण हम क्या दें ?" वे बोले "सिर्फ हस्ताक्षर चाहिये!" अर्थात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उस अनुरोध पत्र से किसी को यह पता नहीं चलता कि "मुझे क्या करना चाहिये", एक काल्पनिक (abstract) 'जनसामान्य' को वह संबोधित करता है। राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के मन में भावना होनी चाहिये कि "राष्ट्र की घड़ी में मैं भी एक महत्त्वपूर्ण पुर्जा हूँ", तब वह राष्ट्रीय आवश्यकता का काम टालेगा नहीं। इससे विपरीत आज हर-एक नागरिक समझता है "मेरे करने से कुछ होगा नहीं !" तो सचमुच ही कुछ कर नहीं पाता। व्यक्ति में आत्मविश्वास आना चाहिये। समाजवादी विचारधारा ऐसे आत्मविश्वास को हटाती है ! मानव स्वभाव को नज़र-अन्दाज़ कर उस विचारधारा की कल्पना है अतः सफल होने की जगह विफल होती है। "अपनी दुकान मैं चलाता हूँ" यह दुकानदार का निश्चय है किन्तु सरकारी किसी प्रतिष्ठान, उद्योग आदि के अफसर ऐसा नहीं समझते अतः उन प्रतिष्ठानों के प्रति समर्पित नहीं होते, सरकारी उपक्रमों में घाटा होता जाता है। अपनत्व के बिना कोई अपना सर्वस्व नहीं देता। सरकारी खेमे में छोटे से छोटे कर्मचारी को यह निश्चय नहीं कि कर्तव्य-निष्ठा पुरस्कृत होगी। कुछ साल पहले कलकत्ता में एक चौकीदार को निर्देश था कि कोई भीतर न घुसे। एक अरबपति प्रवेश करने लगे, उसने रोक दिया। वे सेठ और उनसे परिचित अफसर भी उस चौकीदार की कर्तव्यनिष्ठा से प्रसन्न नहीं हुए बल्कि उसे शर्मिन्दा करने लगे। अगली बार वह कितनी दृढता से किसी को रोकेगा ? ऐसे ही अफसर सही काम के प्रति उत्साहित नहीं रह पाता, 'ऊपर वाले' अफसर को खुश करने के प्रति ही सचेष्ट रहता है। यह समाजवादी व्यवस्था में बड़ी कमी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्जुन के मन में प्रश्न उठा—क्या पता जीतूँगा या हार ही जाऊँगा ? वह महाभारत युद्ध से विमुख होने लगा। जगद्गुरु श्रीकृष्ण ने उसे रहस्य बताया—करने-कराने वाला तो परमात्मा है ! जीतेगा भी तो वह और हारेगा तो वह, तुझे केवल निमित्त बनाया जाता है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक ने निमित्त बनने के लिये जिसे चुना उसे यह नहीं सोचना है कि किस कार्य में निमित्त बनाया गया है वरन् इससे प्रसन्न होना है कि महामहिम जगदीश्वर ने उसकी ओर ध्यान दिया, उसे किसी कार्य में निमित्त बनाया।—श्रीकृष्ण का यह उपदेश उसी को हृदयंगम होगा जिसे परमेश्वर से प्रेम है। इसी प्रकार सरकार से प्रेम हो पाया तब तो सरकारी कर्मचारी कर्तव्यप्रधान होगा, अन्यथा नहीं हो सकेगा। प्रेम तभी संभव है जब आत्मीयता हो। राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू की दूध से बनी एक कलम किसी कर्मचारी से टूट गयी। कलम उन्हें प्रिय थी, टूटने से क्रोध आया, उन्होंने उस कर्मचारी को काफी डाँटा, निकल जाने को कह दिया, वह भी रोता हुआ घर चला गया। थोड़ी देर बाद राष्ट्रपति प्रकृतिस्थ हुए। वे स्वयं चपरासियों के रहायशी कमरों की ओर चल दिये ! उस कर्मचारी के पास जाकर उत्तेजना में कही बातों के लिये उससे माफी माँगने लगे। इस घटना से कितनी गहरी अनुभूति प्रकट होती है ! हर-एक व्यक्तित्व को अपनी प्रधानता (importance) का बोध करा पाये तो व्यवस्था निर्बाध चल सकेगी।

सामाजिक एकजुटता और उन्नयन (upliftment) में क्षमा का बहुत सशक्त स्थान है। जहाँ हमारी शक्ति भी काम न करे वहाँ क्षमा काम कर जाती है। दुलारवाद के चलते समाज में क्षमा का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भाव हट रहा है। क्षमा का बाह्य रूप है कि विधानानुसार, सक्षम रहते हुए भी दण्ड न देना और साथ ही आन्तर रूप है कि तुम समझ रहे हो कि अपराधी को ग्लानि है, वह आगे ग़लती न करने के प्रति कृतसंकल्प है तथा तुम्हें उसके प्रति उस अपराध के कारण कोई द्वेष नहीं है। आज हम किसी को माफ नहीं करना चाहते। हो सकता है दण्ड न दे पाते हों पर मन से उसके प्रति द्वेष नहीं मिटता, मौके पर प्रकट हो जाता है चाहे इसी रूप में हो कि भगवान् न्याय करेंगे ! भगवान् के न्यायालय में वाद पहुँचाने का मतलब है कि तुमने क्षमा नहीं किया, वह दण्डित हो यही चाहते हो। सामाजिक तादात्म्य घट जाने से क्षमा का सशक्त संबल हाथ से निकल रहा है। एक छोटी-सी अंगुली सड़ जाये तो रोगी उसे कटवाना नहीं चाहता, बचाकर किसी तरह ठीक कराना चाहता है परन्तु समाज के अंगभूत व्यक्ति के दोष के विरुद्ध दण्ड की भावना ही उठती है। दण्ड का उपयोग बहुत है लेकिन तभी जब वातावरण क्षमा का हो। क्षमाशून्य अतः शुष्क दण्ड देकर कभी किसी का सुधार नहीं होता। क्षमा से ही दण्ड की मानवीयता है। अन्यथा गुण्डागर्दी और प्रशासन में संख्या का ही अंतर होता है—एक छोटे समूह की दण्ड-व्यवस्था है, दूसरी बड़े समूह की दण्ड- व्यवस्था है ! चोरों के दल परस्पर चोरी करते रहें तो किसका सुधार होगा! भारतीय परंपरा पाप को एनः, ग़लती मानती है जिसे सुधारना है, शिक्षा देनी है कि वह और वैसी ग़लती न दुहराई जाये। पाप एक रोग है जिसका उन्मूलन (eradication) करना है, केवल लक्षणों (symptoms) को दबाना (suppress) नहीं है। पाप का रोग दूर करना समाज का धर्म है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रोग मिटाने के प्रति गंभीर रुचि न होने से दुलारवादी प्रवृत्ति के कारण सामुदायिकता (communalism) फैल रही है। सामाजिक एकता के बजाये अपने समुदाय के लाभ को सर्वोपरि रखने वालों के प्रति दुलारवादिता के कारण न उन्हें नियंत्रित करते हैं न शिक्षित ही करते हैं कि सामाजिक दृष्टि से जो समुदाय स्वल्प है उसे बाक़ी सारे समाज की कीमत पर अपने लिये लाभ माँगना ही शोभा नहीं देता। व्यक्ति से समुदाय की तरह समुदायों से समाज का महत्त्व अधिक है यह तथ्य सिखा न पाने के कारण सामुदायिक विघटन बढ़ रहा है। जो आज अधिकारी हैं वे भी बंदर-बाँट करने की नीयत से समुदायों को समाज का घटक बनाने की चेष्टा नहीं करते वरन् उनके पृथक् अस्तित्व की भेदनीति ही अपनाते हैं। आज हम प्रत्येक भारतीय नागरिक पर लागू होने वाले कानून तक नहीं बना रहे, उसमें भी समुदायानुसारी भेद रखते हैं ! यह अपने प्रभाव का दुरुपयोग ही कहा जायेगा कि अनादि भारतीय परंपरा से जुड़े और व्यापक समाज को डाँट-डपट कर दबाना चाहते हैं तथा जो उस परंपरा से जुड़ने को तैयार नहीं और स्वल्प समुदाय हैं उन्हें दुलारते हैं। जो चावल दिल्ली में एक रुपया सेर मिलता था वही काश्मीर में चार आने सेर मिलता रहा। यह दुलारनीति है। इससे अलगाव ही बढ़ेगा, समन्वय नहीं। प्रत्येक घटक को अंग मानकर चलने से ही समाज और राष्ट्र सुरक्षित रहेगा। अंग (organ) कभी अंगी (organism) से प्रधान नहीं होता। चाहे जितना आवश्यक हो, अंगी का विरोध ी होने पर अंग पर ही बलात् नियंत्रण करना पड़ता है। धर्मों के प्रति समता के नाम पर कुछ मज़हबों को दुलारते रहने से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सामाजिक सौहार्द नहीं बना रह सकता। सत्य को छिपाने से मूलभूत हानि ही होती है। साम्यवादी (communist) बोलते समय भी जानता है कि ये वायदे (promises) पूरे नहीं किये जा सकते फिर भी मज़दूरों को खुश करने के लिये उन्हें दुहराता है; यह झूठ है, इसका स्थायी लाभ नहीं होगा।

शिष्टता से दूर हुए नेता कभी केवल डाँटने से तो कभी एकान्त दुलार से समाजमें विशृंखलता लाते हैं। समाज शिक्षा, उदाहरण, नियंत्रण, आत्मीयता और क्षमा से गतिमान् होता है। हिंस्रभावना (aggressiveness) दूर करने के लिये सबसे बड़ा उपाय क्षमा का है, व्यक्ति समाज को और समाज व्यक्ति को क्षमा करे तभी इस दुर्भाव को हटाकर चिन्तामुक्ति हो सकती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्यारहवाँ प्रवचन

एकता की संस्कृति

वेद ने समाज और व्यक्ति के सामने एक दिव्य आदर्श रखा जिसकी उपलब्धि सभी स्तरों पर समन्वित साधना का परम कल्याणमय फल है। वह आदर्श कोई कोरी कल्पना नहीं वरन् दार्शनिक चिन्तन का गंभीर परिपाक है। सांसारिक दशा में हम वास्तविकता उसे कहते हैं जिसका अनुभव होता है। अनुभव में द्वैत है, अनुभव की परिसमाप्ति अद्वैत में है। आप और सामने पड़ा घड़ा दो हैं; देखने की प्रक्रिया का आश्रय आप हैं। "मैंने घड़ा देख लिया" यह आपका अखण्ड भान है, इसमें अद्वैत है। अनुभव का मूल द्वैत है, पर्यवसान अद्वैत है। "अद्वयः सर्वभावानां द्वयेन परिलक्ष्यते" सभी वस्तुओं का द्वैतराहित्य समझा द्वैत के सहारे जाता है। अनुभव करने के लिये एक अखण्ड को भग्न करना पड़ता है—ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय ये खण्ड रहते ही अनुभव किया जा सकता है—परन्तु परिसमाप्ति अद्वैत में है, अनुभव होने पर खण्डों का महत्त्व नहीं रह जाता।

अद्वैत वास्तविक और द्वैत व्यावहारिक है इसका कई स्तरों पर पोषण हो जाता है, लौकिक ज्ञानों में यह बात प्रकट हो जाती है कि ब्रह्माण्ड की परायणता अद्वैत की ओर है। द्रव्य (matter) और ऊर्जा (energy) में पहले द्वैत मानते थे, इसे आईन्ट्स्टाइन (Einstetin) ने हटाया। जड पदार्थ (matter) ऊर्जा (energy) का घनीभूत रूप है और ऊर्जा मूलरूप में द्रव्य है अर्थात् एक ही वस्तु दो दृष्टिकोणों से दो प्रकार की अनुभव में आती है, वस्तुएँ दो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं हैं, अद्वैत है। ऐसे ही पहले जैव (organic) और अजैव (inorganic) ये रसायनशास्त्र (chemistry) के भेद थे पर यूरिया (urea) के आविष्कार से वह द्वैत दूर हो गया। भौतिकी के अनुसार विद्युदणु (electron) द्रव्य-ऊर्जा दोनों में होने से जडाद्वैत है। सभी विज्ञानों में जैसे-जैसे दृष्टि का परिष्कार होता गया वैसे-वैसे अद्वैत आया।

जड और चेतन जगत् भी दो पदार्थ नहीं, ये एक की ही अभिव्यक्ति हैं। छह महीने पूर्व अमरीका में DND शृंखलाओं (chains) का भी अन्वेषण हो चुका है। मन (mind) और दृश्य द्रव्यों (matter) का द्वैत भी दूर होने की प्रक्रिया प्रारंभ हो रही है। शरीर-मन का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता रहता है। मनोदैहिक चिकित्सा पद्धति (psychosomatic medicine) दाँतों के दर्द का मानस कारण बताती है ! हमें बाह्य शरीर और भावना-जगत् में भेद प्रतीत होता है पर भेद कल्पित है, भावनाएँ और द्रव्यादि यों एकमेक हैं कि सर्वथा अलग किये नहीं जा सकते, उन्हें सर्वथा पृथक् मानते रहने से उनके बारे में समग्र जानकारी नहीं हो पाती, उनका अभेद अन्ततः स्वीकारना पड़ता है।

विचारदृष्टि से जीव समस्त संसार में बिन्दु की तरह है। बिन्दु ही रेखा का मूल कारण होता है, ऐसे ही इस चिद्बिन्दु में सारा विश्व निहित है। व्यक्ति-समाज का भेद द्वैत की विचारधारा से है। अनुभव की गंभीरता से देखें तो पता चलता है कि भेद काल्पनिक है। जैसे गणित में निर्देशांकों (x–y coordinates) का भेद या भूगोल में अक्षांश (latitude) रेखांश (longitude) का भेद अनेक व्यवहारों के लिये अत्यावश्यक होते हुए भी पारिभाषिक या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काल्पनिक ही है, इन 'रेखाओं' को और इनके भेदों को सच्चा समझना जैसे ग़लती है वैसे ही व्यक्ति-समाज में सत्य भेद समझना भी भूल ही है। एक सरल सज्जन ने 'भूमध्य रेखा' के बारे में सुन रखा था। पानी के जहाज़ में यात्रा करते हुए उस क्षेत्र में पहुँचे तो कप्तान से बोले "भूमध्य रेखा कहाँ है ? दिखाइये !" वह भी मज़ाकिया था, उसने एक बाल तोड़कर दूरबीन के काँच पर रख दिया, कहा "इसमें देखो, दीख जायेगी वह रेखा।" वे सज्जन खुश होकर बोले—"हाँ, दीख रही है, उस पर एक ऊँट भी चल रहा है !" क्योंकि बाल पर एक जूँ रेंग रही थी ! जैसे भूमध्यरेखा को धरती पर उकेरी रेखा समझना भ्रम है यद्यपि उसे मानकर उत्तर-दक्षिण आदि बहुत-सा सफल व्यवहार चलता है ऐसे ही कोई भी भेद इससे सिद्ध नहीं होता कि वह कार्यकारी है, कल्पित भेद भी कार्यकारी हो जाता है। यद्यपि बिन्दु वास्तविक होता है तथापि निर्देशांकों (coordinates) की अपेक्षा से निश्चित की गयी उसकी स्थिति कल्पित होती है या अक्षांश-रेखांश धरती पर लकीरें नहीं हैं पर उनसे समझे गाँव-शहर सच्चे हैं ऐसे ही समाज-व्यक्ति का भेद सच्चा नहीं है वरन् अनके व्यवहारों की व्याख्या के लिये माना गया है। मानव किसी एक स्थूल शरीर में परिबद्ध नहीं है, उसकी भावनाएँ, स्मृतियाँ अनंत हैं। आत्मा की अनंतता को सीमित करना ही असंभव है।

भेद व्यवहारमात्र के लिये है यह भूलकर आज राष्ट्र और संस्कृति में, भूत और भविष्य में वास्तविक, स्वरूपगत भेद है यह भ्रम हो गया है। इन्हें अलग-अलग समझने से दृष्टि संकुचित हो जाती है। समाज अमुक व्यवहार करे, व्यक्ति अमुक करे—यों भेद

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निर्देश के साथ यह समझे रहना पड़ेगा कि व्यक्ति में समाज है। समाज पूर्णरूप से व्यक्ति में संनिविष्ट रहेगा ही। मानव अपने समाज का माप (measure) है, विश्वात्मा का दर्पण है, उसमें पूरा विश्व प्रतिबिम्बित है; हममें समाज का एक अंग प्रतिबिम्बित नहीं, हम ही पूर्ण समाज हैं। जैसे कैमरा के लेंस में दस व्यक्तियों का चित्र एक-साथ प्रवेश कर लेता है वैसे समूचा समाज व्यक्ति में प्रवेश किये हुए है। समाज और व्यक्ति में द्वैतकी भावना को हम जैसे-जैसे तोड़ेंगे, वैसे-वैसे आगे बढ़ेंगे।

हमें शब्दजाल फँसाता है। आज तो शब्दार्थ-संबंधों और अर्थभेदों का एक विज्ञान (semantics) ही खड़ा हो रहा है। शब्द न जानने वाला अपने को अज्ञ समझता है, शब्द जानते ही लगता है कि अर्थ समझ लिया, आगे जिज्ञासा ही शांत हो जाती है। हम तत्त्वों को अलग-अलग करके देखते हैं इसमें बहुत बड़ा कारण शब्द बनते हैं, विभिन्न शब्दों से विषय किये जा सकने वाले पदार्थों को विभिन्न मान लिया जाता है। अस्तित्ववादियों (existentialists) ने यथोपलब्धि से वैयक्तिक पृथक्करण (abstraction from reality) पर ज़ोर दिया जिससे अनन्त भेदों में दृष्टि उलझती गयी। वैदिक सिद्धांत भेदनिवृत्ति पर ज़ोर देता है। हम शब्दजाल को काटना चाहते हैं। शब्दों के द्वारा जिसे प्रकट किया जाता है उसकी सच्चाई का अनुभव करना है। अनुभव अखण्ड वस्तु है, उसकी व्याख्या के लिये खंडों की कल्पना है, खण्ड कोई वस्तु नहीं जिनसे अनुभव बनता हो ! जिसके टुकड़े करें वह दिति है, दिति के पुत्र दैत्य हैं ! भेदप्राधान्य दैत्य संस्कृति में है। क्योंकि वास्तविकता अभिन्न है इसलिये अलग-अलग करने की चेष्टा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनर्थकर है। व्यक्ति-समाज को दो, अलग समझना—यह दैत्य प्रवृत्ति है। वर्तमान प्रयास इस भेद के दृढीकरण पर केंद्रित है। ऊर्जा दो न होने पर भी जैसे गतिज (kinetic) और स्थितिज (potential) का काल्पनिक भेद है वैसे ही व्यक्ति-समाज में भेद काल्पनिक है।

जहाँ दिति अर्थात् तोड़ना नहीं है वह अदिति है, उसी का विस्तार आदित्य हैं, देवता हैं। देवभाव स्थापित करने का मतलब है अखण्ड भावना लाना। प्रेम अखण्ड है। भाई-भाई में प्रेम न रहने पर ही वे अलग हो जाते हैं। गार्हस्थ्य की शिक्षा ही है कि प्रेम अखण्ड है। पूर्व में सर्वथा असंबद्ध; लड़के-लड़की विवाह के बाद परस्पर प्रेम वाले होकर अखण्ड हो जाते हैं। जहाँ प्रेम है वहाँ अखंडता है, जहाँ खण्डित होना है, पृथक् होना है, भेद है, वहाँ प्रेम नहीं। प्रेम से अनेकता नहीं आती, पत्नी के प्रति प्रेम से पिता को नहीं छोड़ देते। जब पिता के विरुद्ध हिंसा की भावना आती है तब पिता को छोड़ते हो, अलग हो जाते हो। परिच्छिन्न प्रेम मोह है। परिच्छिन्न प्रेम कहीं एकता लाता है तो अन्यत्र अनेकता ले आता है। जिसमें परिच्छिन्नता का दोष नहीं वह प्रेम एकता ही लाता है, कहीं अनेकता नहीं लाता। प्रेम से नहीं वरन् द्वेष से मतभेद होता है। प्रेम का अभाव हो तो विवाह भी असफल हो जाता है। विवाह अपने-आप में पूर्ण माना जाता है तो विवाहितों में प्रेम पनपता है। जब रूप, धन, सम्बंध (contacts) आदि के लिये विवाह होता है तब उन्हीं पर एकता भी निर्भर रहती है, जब तक धनादि हैं तब तक एकता, धनादि नहीं रहें तो विच्छेद। प्रेमराहित्य समाज को विशृंखल करता है। व्यक्ति और समाज में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी आपसी प्रेम चाहिये तभी सामंजस्य रहेगा। जिसे प्रेम का आनंद लेना आता है वही प्रेम कर सकता है। प्रेम स्वयं में आनंद दे, किसी अन्य हेतु या प्रयोजन से प्रेम न किया जाये, तभी प्रेम हो सकता है। इसीलिये कहा जाता है कि तत्त्वज्ञानी ही प्रेम कर सकता है। तुम अपने प्रिय को आनंद देना चाहते हो पर जब तक तुम्हें खुद आनंद मिल नहीं गया है तब तक तुम किसी को दोगे क्या !

जब तक अपरिच्छिन्न आनंद न मिल जाये तब तक परिच्छिन्न आनंद ढूंढा जाता है। विषय-इन्द्रियों के सुव्यवस्थित (harmonious) संपर्क से सुखाभिव्यक्ति होती है। भूख रहे, स्वाद के प्रति इच्छा हो तब जीभ से रसगुल्ले का सम्बन्ध होने पर सुख होता है। विषय-इन्द्रियों का ताल-मेल हुए बिना सुख नहीं होता। आज जब संगीत तक में बेसुरापन है तो समाज में असामंजस्य (disharmony) है इसमें कहना क्या ! विषयेन्द्रिय-संयोग तो बढ़ते जा रहे हैं किन्तु कभी विषय तो कभी इन्द्रिय ठीक न होने से, दोनों में तालमेल न होने से वैषयिक सुख भी घटता जा रहा है। वृन्दावन में बिहारी जी के मंदिर में एक व्यक्ति बेसुरा गीत गा रहा था तो वहाँ बैठे एक सज्जन बोले "अरे! मुझे ही नहीं रिझा सक रहे तो लल्ला को क्या रिझाओगे ?" ऐसे ही जब तुम अपनी पत्नी को प्रसन्न नहीं कर सके तो परमात्मा को क्या प्रसन्न करोगे, समाज को क्या सुख दोगे ? जिसने सरगम ही नहीं सीखा उससे गीत नहीं गाया जाता। घर के छोटे घेरे में आनंद का वातावरण न बना सकने वाला समाज को समन्वित कर ले यह संभव नहीं। विश्व में सर्वाधिक आध्यात्मिकता भारत में मानी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गयी है पर यँही आज त्राहि-त्राहि मची है ! भौतिक स्तर पर भी जब विजय हासिल नहीं कर पा रहे तब आध्यात्मिक सुख क्या पाओगे !

जो सर्वत्र आत्मदर्शन करता है वह अपरिच्छिन्न प्रेम करता है। परिच्छिन्न प्रेम ही न कर सकने वाला अपरिच्छिन्न प्रेम क्या करेगा ? एक विद्यार्थी दो साल में भी पहला पाठ याद न कर पाया तो अध्यापक ने वह पन्ना ही फड़वाकर फैंक दिया ! जिसने क ख ग घ नहीं पढ़ा वह पुस्तक क्या बाँचेगा ! प्रेम की शिक्षा, अभ्यास सीमित दायरे में आरंभ होकर ही उसका विकास संभव है। ज्ञान-क्रिया शक्ति यदि सांसारिक वस्तुओं में ही कुण्ठित रह जाती है, उन्हीं में कारगर नहीं बन पाती तो परमात्मा को किस बल पर प्राप्त करोगे ? समाज के तत्तत् अंगों से प्रेम कीजिये, वही फैलकर अपरिच्छिन्न हो जायेगा। आनंद को बाँटना प्रेम है। सभाओं (clubs) में ले जाना, शराब पिलाना प्रेम नहीं है। वैवाहिक जीवन में, स्त्री को प्रसन्न करने से प्रारंभ करे तब धीरे-धीरे समाज में भी सुख फैला पायेगा। पति-पत्नी परस्पर सुख देने में यत्नशील होंगे तब घर आनंदपूर्ण रहेगा, पड़ौसियों को प्रसन्नता होगी, मित्र, रिश्तेदार, अतिथि खुश होंगे; प्रेम का, आनंद का विस्तार होगा। इसी से हम समान धारणाओं वाले परिवारों में वैवाहिक संबंध उचित मानते हैं, जिससे सम-धी शब्द चलता है, कि उन घरों के बच्चे जब पति-पत्नी बनेंगे तब संघर्ष नहीं होगा। प्रेम का घट जाना समष्टि जीवन को खराब कर डालता है।

आनन्द की अभिव्यक्तिरूप प्रेम की आवश्यकता समझकर उसके संवर्द्धन के लिये प्रयास चाहिये। आनंद और प्रेम सीमित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की जाने वाली वस्तुएँ नहीं हैं। जल बहे नहीं तो सड़ जाता है, निर्मल नहीं रहता। चिद्विग्रह के भी आनंदरस का प्रवाह चलना चाहिये, जो आनंद तुम्हारे पास आये उसे बाँटते रहो तभी वह पवित्र रहता है। उसकी अभिव्यक्ति की यही आवश्यकता है, उसे बाहर प्रकट करने से पुनः उस शक्ति का संग्रह होता है। व्यक्ति या समाज किसी एक को प्रधान मानने वाली विचारधाराएँ ग़लत हैं क्योंकि ये ऐसे दो हैं नहीं कि इनमें गुण-प्रधानभाव हो। केवल व्यक्ति या केवल समाज को दृष्टि में रखकर किये निर्णयों से पूर्ण विकास नहीं होगा।

पहले संकेत किया था कि संस्कृति मातृस्थानीय है और शिष्ट पुरुष पितृस्थानीय हैं। गृह्यसूत्रों में बताया है कि कुलाचार माताओं के निर्देशानुसार कर लेना चाहिये। न केवल शिष्ट जन संस्कृति को और न केवल संस्कृति शिष्टों को बचा सकती है। दोनों मिलकर नवीन कृति करते रहें तो समाज-परम्परा चलती रहती है। स्त्री-पुरुष प्रेम करते रहें, विवाह-प्रजनन न करें तो परंपरा कहाँ चलेगी! विवाह से रमणीयता (romance) समाप्त नहीं होती, बढ़ती है, रचनात्मकता जुड़ जाती है। नवीन परिस्थितियों के अनुरूप आवश्यक नवीन कार्यों को करने के लिये शिष्ट जन सामग्री उपस्थित करें, आधार संस्कृति रहे तब समाज दिनोदिन विकसित होता जाता है। महादेव का एक विग्रह अर्धनारीश्वर का है जिसमें एक ही शरीर में आधा हिस्सा शिव का और आधा भगवती का है। कोमल भाव शक्तिरूप में तथा भयंकर भाव पुरुषरूप में स्फुट होते हैं। संरक्षण कोमल भाव से ही संभव है। जैसे सूर्य एक से दूसरी राशि में शनैः शनैः जाता है ऐसे स्त्री

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महान् परिवर्तन भी धीरे-धीरे ला सकती है। संस्कृति सतही नहीं रहती, सतह पर दीखती ज़रूर है पर भावना के अन्तस्तल में प्रविष्ट होती है। जो संस्कृति जिसकी भावना में पहुँच जायेगी वही उस संस्कृति वाला कहलाता है। भावना-परिवर्तन से संस्कृति-परिवर्तन समझना चाहिये। चाहे बाह्य आचार, बोली, पहनावा, खानपान वही रहे पर भावना वह न रहे तो सांस्कृतिक परिवर्तन हो चुका, बाहरी आवरण भी धीरे-धीरे बदल जायेगा। संस्कृति के अनुरूप जो परिवर्तन आवश्यक होते हैं वे संस्कृति के परिवर्तन न होकर उसके विनियोग के ही परिवर्तन हैं। मौसम के अनुसार कमरा गर्म या ठण्डा करने के लिये बिजली को विनियुक्त करते हैं पर बिजली वही है, इसी प्रकार वही संस्कृति यथावश्यक विनियुक्त हो सकती है। विनियोग-परिवर्तन के लिये ज़रूरी सामग्री शिष्ट देते हैं। जैसे पुत्र के व्यक्तित्व में माता का असीम योगदान होता है ऐसे संस्कृति समाज को सभी कुछ देती है, समाज का व्यक्तित्व संस्कृति पर निर्भर करता है। क्योंकि व्यक्ति और समाज अनेक नहीं एक हैं इसलिये संस्कृति का व्यक्ति के निर्माण तथा निखार में पूर्ण योगदान रहता है। जैसे बिम्ब-प्रतिबिम्ब अलग-अलग होते नहीं, दीखते हैं, ऐसे समाज तथा व्यक्ति दीखते ही अलग हैं, होते नहीं। इनका भेद केवल कुछ व्यवहारों के सुसंपादन के लिये है, वास्तविक नहीं। व्यक्ति और समाज एक-दूसरे को अपनी पूर्णता अर्पित करें तभी व्यवस्थित, शांतिमय, मधुर विकास (harmonious development) होगा।

प्रेममयता लाने का प्रयास प्रत्येक को वहीं प्रारंभ कर देना चाहिये जहाँ वह है। अपने पारिवारिक जीवन से ही यह शुरू कर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकते हैं कि सभी सदस्य आपसी प्रेम रखें, आनंद बाँटें, दुराव भेदभाव हटायें। आप में प्रेम है तो उसका प्रतिबिम्ब उस स्वल्प समाज में अवश्य दीखेगा और फिर महत्तर समाज में भी वह प्रतिबिम्ब विस्तृत हुआ दीखेगा। मैत्री के इस आदर्श की ओर बढ़ते ही बड़ा भारी परिवर्तन हो जायेगा। विवाह होने पर प्रेम हो जाये, बना रहे, तो सृजनात्मक रमणीयता होती है; इसी तरह सौहार्दपूर्वक, विकास के प्रयास में रमणीयता बनी रहेगी, आनंद बना रहेगा। इस प्रकार के कुछ चित्र बनते हैं—यद्यपि उनपर नियंत्रण (censor) है—जिन्हें देखने से बहुत घबराहट (nervous-ness) होती है। ऐसे ही हमारी अनेक चेष्टाएँ होती हैं—यद्यपि ध र्म, परंपरा, संस्कृति आदि का उन पर नियंत्रण है—जो समाज को अस्तव्यस्त कर डालती हैं। अनेक माता-पिता चाहते हैं "सन्तान की ज़िम्मेवारी हम पर न आवे" तो या वे संतान पैदा ही नहीं करते और कहीं पैदा हो ही जाये तो उसे किसी दूसरे के—आवासीय विद्यालय, नौकर आदि के—सुपुर्द कर देते हैं ताकि उसका अच्छा-बुरा जैसा भी व्यक्तित्व बने, माता-पिता उसके लिये उत्तरदायी न माने जायें। यही प्रवृत्ति आज शिष्ट जनों में आ रही है, वे समाज की ज़िम्मेवारी से घबरा रहे हैं। अपनी ओर से प्रयास करके समयानुकूल परिष्कारों को प्रयोगात्मक रूप से प्रकट नहीं कर रहे जिससे संस्कृति का सातत्य बना रहे। परिस्थिति की माँग पर परिवर्तन अवश्य आता है। यदि शिष्टों ने संस्कृति के अनुसार सोच-समझकर परिवर्तन प्रवृत्त नहीं किया है तो किसी परायी परंपरा की नकल होगी या अविचारित, असमन्वित, अनुपयुक्त परिवर्तन हो जायेगा। नये पदार्थ बनते ही हैं, विद्वान् अगर उन्हें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कोई समुचित नाम नहीं देते तो लोग स्वयं व्यवहारार्थ नाम बना ही लेते हैं। पर अनजान लोगों के दिये नाम भाषा को विकृत ही करते हैं, शोभा तो विद्वानों के दिए नामों से होती है। इसी तरह समयानुसार शिष्ट जन यदि अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं करते तो समाज में विकृति अनिवार्य है। प्रारंभ अपने भौतिक-मानस स्तर पर सामंजस्य से (symphony, harmony) करना है तभी ध ीरे-धीरे प्रयास करने से सारे समाज, देश, मानवता और अनंतकोटि ब्रह्माण्ड से तादात्म्य होगा। व्यक्ति-समाज के काल्पनिक द्वैत का बाध होने पर इनका वास्तविक अभेद प्रकट होगा तभी पूर्ण आनंद और प्रेम अनावृत होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बारहवाँ प्रवचन

दिल और दिमाग़ की एकता

मानव और समाज के सन्दर्भ में विचार करते हुए पाया कि पूर्णत्व की प्राप्ति आनन्द के वितरण में है। आनंद का मूल प्रेम है। अविकसित दशा में प्रेम परिच्छिन्न ही होता है पर आवश्यकता परिच्छेद हटाकर प्रेम अभिव्यक्त करने की है। परिच्छिन्नता का प्रभाव उपलब्ध आनंद पर, अतः प्रेम पर भी पड़ जाता है। जलदाय-विभाग की नाली चाहे जितनी बड़ी हो, आपको पानी उतना ही मिलेगा जितनी पतली या मोटी आपके घर आने वाली नाली है। ऐसे ही वास्तव में भले ही आनंद ब्रह्म है, व्यापक अखण्ड है, पर यदि वह आपको परिच्छिन्न उपलब्ध हो रहा है तो आपके काम में उसका संकुचित रूप ही आयेगा और उसे ही आप आगे भी बाँट पायेंगे। अनुभव के प्राकट्य में परिच्छिन्नता होती है, अभिव्यक्ति में सीमा होती ही है। किसी अनुभव को शब्दों में प्रकट करें तो वह परिच्छिन्न हो जाता है। ईश्वर का भी गुणगान करते हैं तो उन्हें वाणी से परिच्छिन्न ही करते हैं ! असीम का मनसे चिंतन या वाणी से कथन असंभव है। आनंद हमारे अंदर अखण्ड है पर अभिव्यक्ति करते समय परिच्छिन्नता ही है। जलतत्त्व असीम है पर उसके अभिव्यक्ति केन्द्रों—बूँद से सागर तक—में परिच्छिन्नता है अतः व्यावहारिक स्तर पर जल को अपरिच्छिन्न बनाने के लिये केंद्रों का ही विस्तार करना पड़ेगा। असीम आत्मशक्ति एक शरीर में सीमित है। उस सीमा को लाँघने से ही अपरिच्छिन्नता होगी।

शरीर और मन जीव को निरन्तर सीमित घेरे में खींचता है, वहीं आत्मबुद्धि करने देता है। तैरते हुए यदि भँवर (whirlpool)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में फँस जाओ तो जैसे उससे बाहर निकलना अत्यन्त कठिन होता है वैसे ही शरीर-मन के भँवर में पड़ा जीव इनकी परिधि से बाहर निकल सके यह असम्भव- प्राय है। शरीर के अनुभव को ही सच्चा और बाकी को मिथ्या मानना ही उस भँवर में रहना है। हमने बौद्धिक और भावनात्मक दो पृथक् ध्रुव (intellectual and emotional bipolarity) मानकर बौद्धिक को सच्चा और भावनात्मक को मिथ्या बना रखा है। आधुनिक विज्ञान ने यह सिखाया कि यौक्तिक (rational) को सच्चा और भावनात्मक को, भावना से गृहीत को मिथ्या स्वीकारो। अनुभव-जगत् में यह दीवाल आने से खण्डितमनस्क व्यक्तित्व (schizophrenic personality) विकसित हो जाता है। मानस जगत् का तत्त्व भूखा रहने पर प्रतिक्रिया करता है। भावना हमसे इतनी तादात्म्यापन्न है, उसका-हमारा इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि भावना की प्रतिक्रिया हमसे संभाले नहीं संभलती। यह एक भ्रान्त धारणा है कि केवल समझने से, बौद्धिक प्रयास मात्र से सब भेदभाव मिट सकते हैं। हिन्दू-मुसलमान एक हज़ार वर्षों से भारत में साथ रह रहे हैं, एक-दूसरे को समझते भी हैं फिर भी मतभेद दूर नहीं हुए। यहूदियों-ईसाइयों का झगड़ा आज तक मिट नहीं पाया। ये ऐतिहासिक अनुभव स्पष्ट करते हैं कि केवल समझ को साधन मानकर चलना अपर्याप्त है।

आधुनिक मनोविज्ञान भावनाओं के प्रधान और गौण (primary and secondary emotions) दो भेद करता है और समन्वित व्यक्तित्व के लिये बताता है कि गौण भावनाओं का प्रधान भावना से सामंजस्य (integration) बैठाना ज़रूरी है, केवल किसी की उपेक्षा कर देने से वह निरस्त नहीं हो जाता ! आत्माभिव्यक्ति की इच्छा एक प्रधान भावना है, प्रजनन की अभिलाषा सशक्त होती है। ईर्ष्या, द्वेष आदि गौण भावनाएँ हैं क्योंकि ये निर्भर हैं किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रधान पर जिसके अनुकूल या विरुद्ध के प्रति ही ये भावनायें उठती हैं। यदि हम किसी भावना को कार्यक्षेत्र प्रदान नहीं करते तो हमारा व्यक्तित्व अविकसित (repressed personality) ही रह जायेगा। इसी का असर होता है कि हम आपस में विरोधी प्रवृत्ति (schizophrenic approach) करने लगते हैं। इससे बचने के लिये जो एक सर्वप्रधान प्रेरक भावना (master motive) है उसे पहचान कर बाकी भावनाओं को उससे समन्वित (integrate) करना पड़ेगा। भगवान्, यश, धन—कुछ भी किसी के लिये जीवन का प्रधान उद्देश्य, मुख्य आकर्षण बन सकता है, तदनुसार वह यदि अपने भावराज्य को कार्यकारी बना सका तो उसका व्यक्तित्व स्वयं में संगठित रहेगा, बिखरेगा नहीं।

समाज के व्यवस्थित विकास के लिये समाज के लिये भी एक मुख्य उद्देश्य (master motive) चाहिये और समाज में व्याप्त अन्य भावनाओं को उससे समन्वित होना चाहिये। सामाजिक स्तर पर भी मुख्य व गौण भावनाओं का सामंजस्य बैठाना ज़रूरी है ताकि कोई प्रवृत्ति भूखी न रहे। भावनाओं के समन्वयन का रूप श्रीमद्भागवत में बताया।

'कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहात् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः।।'

भागवत का मुख्य उद्देश्य भगवान् हैं अतः कामना, द्वेष, भय, स्नेह, सम्बंध आदि बाकी सब भावनाओं को परमेश्वर की ओर समन्वित (integrate) करने को बताया। यों सर्वतोभावेन एक दिशा में चलने से ही सफलता संभव होती है। आज़ादी की लड़ाई के चलते भारतीय समाज के पास सुस्पष्ट मुख्य उद्देश्य था अतः सभी घटक सर्वस्व न्यौछावर करके भी उसे सम्पन्न करने में सहायक बनते रहे और उस प्रयास से स्वयं भी संतुष्ट रहे। जब तक समाज के सामने एक प्रधान उद्देश्य नहीं रहता तब तक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समाज के अंग आपस में गुंथ नहीं पाते, संग्रथित नहीं हो पाते। मानव के अव्यवसायी (अस्थिर, अनिश्चित), निम्नमुखी छितराव को ऊर्ध्वमुखी बनाकर व्यवसायी, एकाग्र करेंगे तभी वह और उसका समाज उत्कर्ष पा सकेगा। इसके लिये अर्हाओं का क्रम निर्धारित कर उन सबको एक में संगठित करना आवश्यक है। भारत को आज़ादी मिलने के साथ ही क्योंकि समाज के सामने कोई महान् उद्देश्य रह नहीं गया, शिष्ट जन रख नहीं पाये, इसलिये मतभेद बढ़ते चले जा रहे हैं।

परा-अपरा दो प्रकृतियाँ हैं, एक आभ्यंतर दूसरी बाह्य, जिन्हें साथ ही साथ लेकर चलने से व्यावहारिक स्तर पर प्रगति होगी। अभी हम बाह्य जगत् को जीतने में इतने तल्लीन हो गये हैं कि आभ्यन्तर जगत् को जीतने का प्रयास भी प्रारंभ नहीं किया है। पति पत्नी पर दबाव डालता है, डाँटता है, उसे नियंत्रित कर लेता है परन्तु इससे पत्नी में जो अशांति आती है वह अंततः उस नियंत्रण को खोखला सिद्ध करती है। बाह्यदृष्ट्या उस पर विजय पाने पर भी उसकी भावनाएँ समझने की कोशिश नहीं की तो गार्हस्थ्य कष्टमय हो जायेगा। जब तक समाज में एकत्व नहीं होगा, आपसी दृढतर तादात्म्य नहीं होगा, तब तक व्यक्ति को फौज से, पुलिस से दबाने का ही प्रयत्न रहेगा, उसके आभ्यंतर जगत् में प्रवेश करने का यत्न नहीं होगा। जब मानव का आभ्यंतर जगत् नहीं जीता जाता तब क्रान्ति आती है। जैसे ज्वालामुखी जब तक फटती नहीं तब तक बाहर से सब सामान्य लगने पर भी ज़मीन के अंदर धीरे-धीरे दबाव बढ़ता जाता है जो अन्त में अत्यंत क्रूर वेग से प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार क्रान्ति अस्मात् एक दिन नहीं आ जाती वरन् असमन्वय के कारण, केवल बाहरी व्यवस्था (order) बनाये रखने की प्रधानता होने से जब व्यक्ति की आन्तरिक भावनाओं का दलन किया जाने लगता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है तब धीरे-धीरे दबाव बढ़कर समाज के प्रति विद्रोह खड़ा हो जाता है, 'क्रान्ति हो गयी' यह स्पष्ट हो जाता है। जैसे समाज का अनुचित दबाव व्यक्ति नहीं सहता ऐसे ही व्यक्ति का अनौचित्यपूर्ण दबाव समाज भी नहीं सह पाता ! सामाजिक भावनाओं को व्यक्ति जब इतना तिरस्कृत करने लगता है कि समाज घुटन महसूस करे तब व्यक्ति के विरुद्ध समाज की भी वही स्थिति बन जाती है जो क्रान्ति करते हुए व्यक्ति की समाज के विरुद्ध होती है।

आपसी सौहार्द और समन्वय के स्थापन के लिये केवल बौद्धिक ही नहीं वरन् भावनात्मक स्तर पर भी एक-दूसरे को समझना-समझाना आवश्यक है। भावना (emotion) और विचार (intellect) में संघर्ष (conflict) समाप्त किये बिना न मानव का न उसके समाज का व्यवस्थित व्यक्तित्व परिष्कृत हो सकता है। वर्तमान दशा में हमारे भीतर भावना और विचार की रस्सा-कशी (tug of war) चलती रहती है और क्योंकि दोनों मुद्दों पर हमें आत्मसमर्पण करते रहना पड़ता है इसलिये हम हारे, ठगे, स्वयं को दुःखी महसूस करते हैं। बजाये भावना-विचार में समन्वय लाने के आज एक नये प्रकार का झूठ खड़ा किया जा रहा है जो व्यक्ति की पूर्णता की जगह और ज़्यादा खण्डितता प्रकट करता है। उस झूठ का नाम है सांख्यिकी (statistics)! सूचना-सामग्री (data) को इस तरह सारणी-बद्ध (tabulated) उपस्थित करते हैं कि एक ही व्यक्ति अनेक श्रेणियों (category) में रखा मिलता है। मनुष्य एक पूर्ण वस्तु है। धर्मदृष्टि से उसे अलग समझें, राष्ट्रीय दृष्टि से कुछ और समझें, आर्थिक-शैक्षणिक-जातीय आदि विभिन्न दृष्टियों से अलग-अलग समझें यह प्रवृत्ति (approach) ही सदोष है क्योंकि जो है ही अखण्ड (individual) उसे खण्ड-खण्ड कर देखना उचित नहीं हो सकता। समन्वयस्थापन में ऐसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रवृत्तियाँ प्रतिबंधक बनती हैं क्योंकि इनके प्रभाव से समूचे व्यक्तित्व से सम्बंध नहीं स्थापित हो पाता वरन् विभिन्न आयामों पर ही दृष्टि केन्द्रित होकर पूर्ण में खण्ड देखने लगती है। व्यक्ति में स्वयं में भेद उत्पन्न करना अनुचित है।

पूर्णता जानने के लिये समझना होगा कि सीमा औपाधिक है। वस्तुतः व्यक्ति असीम है, ससीम नहीं है। जहाँ तक उसकी बुद्धि है वहीं तक वह ससीम प्रतीत होता है। बुद्धि से हटकर मानस अर्थात् भावना के स्तर पर पहुँचने से ही उसकी सीमाएँ घट जाती हैं। विचार की अपेक्षा कल्पना के क्षेत्र में अपनी श्रेष्ठता ज़्यादा प्रतीत होती है। विचार, बुद्धि या प्रमाण स्त्री को देख सकता है; माता, बहन, पत्नी, पुत्री आदि भावना से दीखती हैं अतः स्पष्ट है कि विचारस्तर की बहुत छोटी सीमाएँ हैं। कुछ लोग इस महत्ता को समझना नहीं चाहते, ऐन्द्रिय (perceptual) ज्ञान को प्राधान्य देते हैं यह कहकर कि व्यावहारिक (practical) जीवन चाहते हैं ! सच तो यह है कि व्यावहारिक जीवन कभी ऐन्द्रिय ज्ञान मात्र से चल ही नहीं सकता, काल्पनिक (conceptual) ज्ञान के आधार पर ही व्यक्तियों व वस्तुओं से व्यवहार किया जाता है। सामान्य पुल (bridge) बनाने के लिये पहले नक्शे, गणना आदि द्वारा एक कल्पना (plan) करनी पड़ती है, कल्पनाओं का ही परिष्कार करना पड़ता है तब तदनुसार पुल बनता है उसके बाद वह ऐन्द्रिय (perceptual) हो पाता है। साम्यवाद (communism) की विजय हेगेल (Hegel) के द्वन्द्वात्मक तर्क के भौतिकवाद (dialectic materialism) की विजय है। मार्क्स के समय न साम्यवाद रूस में था, न चीन में; मार्क्स को उसका ऐन्द्रिय (perceptual) ज्ञान हो सके इसकी कोई संभावना नहीं। उन चिंतकों ने अपनी भावना, अपनी कल्पना से एक खाका बनाया जिसका कालक्रम में मूर्त रूप रूस-चीन में देखने को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिला। बौद्धिक स्तर का विकास भावना का स्तर छोड़ने से नहीं हो सकता वरन् भावनास्तर पर प्रारंभ करने से ही हो सकता है : योजना (plan) काल्पनिक (conceptual) होती है, ऐन्द्रिय (perceptual) नहीं। काल्पनिक जगत् में इच्छा शक्ति का स्वातंत्र्य असीम है। ऐन्द्रिय जगत् ससीम है अतः बौद्धिक जगत् भी सीमाबद्ध है। कल्पना-जगत् (concept) में क्योंकि अनंत संभावनाएँ हैं इसलिये ऐन्द्रिय स्तर पर जिनका समन्वय असंभव लगता है उनका भी समन्वय कल्पनास्तर पर सुसंभव हो जाता है। समाज के संग्रथन के लिये कल्पना की महत्ता समझनी होगी।

पूर्णता की ओर ले जाने वाला प्रधान उद्देश्य (master motive) काल्पनिक जीवन (conceptual life) ही है। आईन्स्टाइन ने सापेक्षतावाद के आधार पर देश-काल- सान्तत्यक (space-time-continuum) से यही रहस्य भौतिकी के संदर्भ में प्रकट किया है। तदनुसार भूत, वर्तमान, भविष्य के स्थायी भेद का आध ार आज नहीं रह गया है। जो देश-काल अभिन्न हैं उन्हीं का एक 'अंश' काल है यह वर्तमान भौतिकी में मान्य है। आकाश और काल दो अलग चीज़ें नहीं हैं। काल कभी आकाश के बिना नहीं रह सकता और काल की अनुवृत्ति हर अनुभव में है। अतः आध ुनिक वैज्ञानिक समीकरणों में कालरूप घटक (time factor) का निवेश करते हैं। हमारा व्यवहार तो भूत-भविष्य-वर्तमान में ही चलता है और ये कल्पना (concepts) हैं ऐसा वैज्ञानिक मान रहा है। जब भूतादि ही काल्पनिक हैं तब और चीज़ों में वास्तविकता कहाँ रहेगी! वास्तविक तो केवल एक भगवान् हैं जो दिक्-काल आदि से अनवच्छिन्न अखण्ड चिन्मात्रमूर्ति हैं। अपनी कालनिरपेक्षता बताने के लिये ही भगवान् ने स्वयं को काल कह दिया। जैसे व्यापक होने से भगवान् दिङ्निरपेक्ष हैं वैसे ही नित्य होने से कालनिरपेक्ष हैं। व्यावहारिक जगत् में तो कल्पना छोड़ने से काम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं चलेगा।

अब तक हम यह मानते चले हैं कि हम किसी एक समय पैदा हुए; समाज को अनादि किन्तु व्यक्ति को सादि मानते हैं। पूर्वोक्त वैज्ञानिक स्तर पर समाज और व्यक्ति दोनों भूत-भविष्य-वर्तमान से परे सिद्ध होते हैं। हमारे पुरखे यदि मानव न होते तो आज हम पैदा न हुए होते और हम भी पुत्र-पौत्र आदि द्वारा मानव को अनन्त बना रहे हैं। जैसे माला की मणि स्वतः 'आगे' या 'पीछे' नहीं कही जा सकती, किसी की अपेक्षा से भले ही उसे अगली या पिछली कह दें, वैसे व्यक्ति भी स्वतः भूत या भविष्य नहीं कहा जा सकता। विचार करें तो शरीर भी सादि नहीं है ! शरीर का बीज माता-पिता आदि परंपरा में था तभी यह विकसित होकर इस रूप में सामने आया है। अभिव्यक्ति को ही उत्पत्ति समझना पड़ता है, असत् की सद्भावापत्ति रूप उत्पत्ति मान्य नहीं होती। अतः शरीर रूप से भी व्यक्ति का अस्तित्व अनादि है। शरीर नष्ट अर्थात् असद्भावापन्न भी नहीं होता। पैर से प्राण चला जाये पर छाती में बना रहे तो आप मरे हुए नहीं माने जाते, ऐसे ही पुत्र-पुत्री में आप जीवित ही रहते हैं तो आपको नष्ट कैसे कहा जाये ? यों जब शरीर भी अनादि-अनंत है तब आत्मा की बात ही क्या !

व्यक्ति की तरह समाज भी अनादि अनंत है। अभिव्यक्ति में आदि-अन्त होते हैं। एक शरीर की विशिष्ट विरचना की दृष्टि से जैसे व्यक्ति को सादि-सान्त कह सकते हैं ऐसे समाज अपनी विशिष्ट अभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रारंभ व समाप्ति वाला कहा जा सकता है। विशिष्ट अभिव्यक्ति में ही उलझ जाने से भेदभाव बढ़ता है। पुराने ज़माने में आदमी के सिर का केश कटने पर कोई अफसोस नहीं होता था पर मूँछ के बाल को इतना महत्त्व देते थे कि वह गिरवी भी रख लिया जाता था ! एक ही शरीर के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दोनों बाल हैं पर भेददृष्टि से इतना अंतर है। समाज के सारे शरीर एक ही आत्मा के हैं। संसार में समष्टि दृष्टि से एक ही मन है। फिर भी हम एक-एक शरीर-मन को लेकर बैठ जाते हैं तो भेदभाव ही बढ़ता जाता है। ससीमता की दृष्टि नष्ट होने पर मानव और समाज का भेद भी मिट जायेगा। व्यक्ति और समाज में एक ही मानवता प्रस्फुरित हो रही है। व्यक्ति स्वयं को समाज से संग्रथित नहीं रखता तभी बिखराव आता है। अभेदभाव होने पर लगता है कि जो कुछ समाज में हो रहा है उसे मैं करता हूँ ! जीव ब्रह्मरूप है—यह हम सुनते ज़रूर हैं पर भावना रहती है कि "आखिर हूँ तो आदमी ही !" संसार को मिथ्या सिद्ध करते हैं पर व्यापार में घाटा सत्य लगता है ! यह इसीलिये कि अद्वैत की समझ भर है, उसकी भावना नहीं है। जब अद्वैत भावना में रम जाता है जब असीम आनंद निरावृत होने पर प्रेमाभिव्यक्ति संभव होती है। वास्तविक प्रेम तभी अभिव्यक्त होगा जब उसे बाँटेंगे। प्रेम की अपरिच्छिन्न अभिव्यक्ति तभी होगी जब आपका अपनत्व अपरिच्छिन्न बनेगा। अद्वैत का व्यावहारिक रूप भावना-जगत् में लाया जाये तब आनंद का उल्लास होगा। जीवन के प्रत्येक क्षण में अद्वैत प्रकट करने का उपाय प्रेम है। एक थाली में साथ खाने से कोई भेद नहीं मिटता ! वहाँ भी एक जना घी अपनी तरफ सरका लेता है तो दूसरा मिठाई पर हाथ साफ करने लगता है। एकता भावना के स्तर पर ही संभव है, बाह्य क्रिया के स्तर पर नहीं। "मैं यह शरीर नहीं हूँ, सारा समाज, सारा ब्रह्माण्ड हूँ" यह अद्वैत की भावना है। अद्वैत कोई नशे की गोलियाँ नहीं है कि द्वैत दीखना बंद हो तभी अद्वैत रहे ! इसीलिये शास्त्र ने स्पष्ट किया कि तुरीय कोई चतुर्थ अवस्था नहीं है वरन् तीन में अनुस्यूत रहते हुए तीनों से अस्पृष्ट है, तीनों का अधिष्ठान है। प्रत्येक स्तर पर विश्वात्मभाव निरावृत करना होगा;

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जब तक परा प्रकृतिरूप एक भी जीव परिच्छिन्न है तब तक आप भी पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पायेंगे। विश्वात्मभाव की दृष्टि से सारा जड-चेतन जगत् आपका रूप बने यही वैदिकों का प्रधान उद्देश्य (master motive) है। आज का समाज अनन्त समाज का एक छोटा-सा प्रतिनिधि (cross-section) है, समाज के असीम काल में एक क्षण (moment) है। इसे उस महान् आदर्श की ओर प्रेरित करना है।

विश्वात्मभाव को आत्मसात् कर प्रत्येक व्यक्ति विशृंखलता नष्ट करे। एक व्यष्टि को नहीं सारे समाज को सुखी करना आदर्श है। सुख-दुःख में सबकी बराबरी का अर्थ सबको समान पैसा बाँटना नहीं होता ! सुख आये तो उसे सुख न समझो—यह कहना भी ग़लत है क्योंकि वह मिथ्याज्ञान होगा जो चाहिये नहीं। करना यह है कि चाहे सुख आये या दुःख, समाज की ओर दृष्टि रखो कि मुझ अकेले के सुख का तब तक कोई मायने नहीं जब तक समाज में दुःख है और मुझ अकेले का दुःख सामाजिक दुःख के सामने कितना नगण्य है ! यह समभाव सुख-दुःख के प्रति व्यक्ति को लाना है। एक व्यापारी को जब लाभ होगा तो दूसरे को नुकसान होना ही है, दो शरीरों में सुख-दुःख युगपत् हैं; यह दृष्टि रहे कि मुझ व्यष्टि के कारण किसी भी व्यष्टि को दुःख न हो क्योंकि सामाजिक स्तर पर वह व्यष्टि भी मैं हूँ, एक ही आत्मा दोनों देहों में है, तो किसी अनुचित लाभ की प्रवृत्ति न हो पाने से दूसरे को अनुचित हानि भी नहीं होगी। भारतीय संस्कृति अनादि-अनंत इसीलिये कहलाती है कि यहाँ का आदर्श, प्रधान आकर्षण, मुख्य उद्देश्य यह पूर्णता—जिसे मोक्ष कहते हैं—रही है, प्रशासनभेद, कालभेद, स्थानभेद, यहाँ तक कि सम्प्रदायभेद होने पर भी भारतीय मानस सदा सर्वत्र एकात्मता, पूर्णता को लक्ष्य मानता है। जब तक आप पूर्णता प्राप्त नहीं करेंगे तब तक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संस्कृति की पूर्णता नहीं है। रामायण-महाभारत की पुस्तकें संस्कृति नहीं, संस्कृति तो आपका जीवन है ! तुलसीदास जी ने अपना मानस चित्रित किया इतने से वह हमारी संस्कृति नहीं हो गयी, जब तक उसका संदेश, समस्त उदात्त साहित्य का उपदेश हमारे जीवन की प्रत्येक क्रिया-प्रतिक्रिया में न अभिव्यक्त हो जाये तब तक वह हमारी संस्कृति नहीं है।

दुर्बलता तब प्रारंभ होती है जब हमारे जीवन में हम आदि-अन्त को भूलकर अपने आपको केवल एक क्षण में देखना चाहते हैं। एक हज़ार वर्षों से हम गुलाम क्यों रहे? समाज को बहाने बनाने का अभ्यास हो गया इसलिये। हमारी दृष्टि तामस, परिच्छिन्न, स्वार्थी हो गयी, व्यक्तिगत सुरक्षा (to save our own skin) में ही हम सीमित रहने लगे। आज तक हम उस घेरे से बाहर नहीं निकल पा रहे हैं। धर्म में भी अपने कल्याण का परिच्छिन्न भाव ही सामने रखते हैं, "मेरी मुक्ति कैसे हो" इस पर ज़ोर देते हैं, सार्वजनीन मुक्ति की दृष्टि नहीं बना पाते। संसार से दूर होना संभव नहीं; जहाँ भी जाओ, संसार-संस्कृति तुम्हारे अन्दर रहेंगे। ग़रीब देश में रहते हुए 'मेरी' ग़रीबी अलग-से नहीं मिटेगी, सब की ग़रीबी मिटने में ही मेरी भी मिटेगी—यह एकात्मभाव की दृष्टि लाने से दुर्बलता दूर होती है क्योंकि बिखरी हुई शक्ति एकजुट हो जाती है। हज़ार सालों से हम स्वार्थ को ही परमार्थ देख रहे हैं। इससे न केवल हमने अपना, समाज का नुकसान किया वरन् आत्मा की वास्तविकता समझने से ही दूर होते गये। जब तक आत्मा को परिच्छिन्न समझते हैं तब तक आत्मा का मोक्ष संभव है ही नहीं ! आत्मा का स्वरूप अद्वैत है। सृष्टि भी वह व्यापक वस्तुओं से प्रारंभ करता है, देह में बँधना अंतिम परिच्छेद है। हमारा उद्देश्य मोक्ष है, वही परम पुरुषार्थ है। उसके लिये हमें परिच्छेद छोड़ते जाना पड़ेगा। जिसे देह-सीमित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समझ रहे हैं उसे ही जब सब सीमाओं से रहित जानेंगे तभी उसका परमेश्वर से अद्वैत निरावृत होगा। परिच्छेदों का परित्याग केवल बुद्धिविलास नहीं, भावनात्मक, अनुभवात्मक होना पड़ेगा। यह विकास कदम-कदम ही हो सकता है। जैसे-जैसे जीव अपने परिच्छेद छोड़ता जायेगा वैसे-वैसे उसका विकास होगा और उसमें जितनी व्यापकतानुभूति होगी उतना ही समाज संश्लिष्ट होकर प्रगतिशील होगा।

मानव और समाज क्योंकि पृथक् नहीं हैं इसलिये इनका जीवन, इनके जीवन का उद्देश्य, इनका चरमोत्कर्ष भी एक अद्वैत आनन्द ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi